रागिनी

श्रीमती उषा देवी मित्रा

हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स,

शाहगंज, इलाहाबाद

प्रथमावृत्ति] जुलाई १९४६ [मू० १॥)

प्रकाशक—
गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम०,
अध्यक्ष हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स,
शाहगंज, इलाहाबाद।



मुद्रक—
गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम०,
अध्यक्ष नारायण प्रेस, नारायण बिल्डिंग्स,
शाहगंज, इलाहाबाद।

प्रकाशकीय—

प्रस्तुत पुस्तक की लेखिका श्रीमती उषादेवी मित्रा को हिन्दी-साहित्य-संसार भली भाँति जानता है। हिन्दी-साहित्य के नव-निर्माण की प्रगति में कहानियों की जो प्रतिष्ठा है, उसका श्रेय किसे प्राप्त होना चाहिये; इसे भी हिन्दी-भाषा-भाषी जनता पूर्ण रूप से जानती है।

देश, जाति तथा मानव-समाज की उन्नति के लिए ही साहित्य-निर्माताओं का जन्म हुआ करता है। जीवन के इसी उद्देश्य को लेकर वे निरन्तर संसार में अग्रसर होते रहते हैं। संघर्षों के बीच में ही उनकी साहित्य-साधना तथा तपस्या का श्रीगणेश होता है।

मानव-मात्र को समय की पूर्वापर परिस्थिति का ज्ञान कराना, देश-काल की वास्तविक दशा, तथा उसके परिवर्तन से मानव-समाज के अन्तरंग और बहिरंग वातावरण का विवरण देना; साथ ही साथ विशुद्ध आनन्द प्राप्त कराते हुए अमरत्व की ओर ले जाना ही सफल साहित्य-तपस्वी की जीवन-चर्या हुआ करती है।

अपने इस पुनीत कार्य से उसे लोकोत्तर आनंद प्राप्त होता है और संसार के कितने ही प्राणी आनंद प्राप्त किया करते हैं। जिस समय उसका ज्ञान भावों के उपवन में विकास को प्राप्त होता है उस समय उसकी समता करने वाला कोई नहीं रह जाता।

जो हृदय और मस्तिष्क को परस्पर मिला सकता है, प्राकृतिक सौंदर्य तथा मानव-जीवन की पूर्ण-विवेचना करके जो उन्हें मनोरंजक भाषा में व्यक्त कर सकता है उसकी सफलता ध्रुव हो जाती है। साथ ही साथ उसकी सभी रचनाएँ मानव-हृदय को स्पर्श करती हुई साहित्य को भी धन्य कर देती हैं।

तात्पर्य यह कि श्रीमती उषादेवी मित्रा की साहित्यिक सफलता पर हिन्दी-संसार अपने को गौरवान्वित समझ रहा है और यही कारण भी है कि इनकी हृदय-तंत्री से झंकृत मधुर भावनाओं को *'रागिनी'* के रूप में प्रकाशित कर हम भी अपने को गौरवान्वित समझ रहे हैं।

१५—७—१९४६ *गयाप्रसाद तिवारी*

सूची

पुतली जो उठ

भारतवर्ष के श्वास में रक्त-सिन्दुर फुलझरी झर रही थी—झर-झर-झर-झर—सहस्र, सहस्र दीपों की। एक विरामहीन खुशी, नव-जीवन की झंकार शिरा-उपशिराओं में।

शहर के बाहों में वह छोटा-सा गांव। हरे शस्य से आंचल भरे हुए, आनन्द-निर्झर सा वह ग्राम। रात्रि के प्रथम श्वास में दीप मालाओं का अपूर्व झमेला। ग्राम हृदय में शान्त स्निग्ध और विद्वेष—ईर्षाहीन, विलासिता वर्जित कुटीर श्रेणी। गोमयलिप्त कुटीर द्वारों पर दीपदान करती गृहलक्ष्मियों के मुख की हंसी, आँखों की खुशी बुझना न जानती। गोशालों में हम्बारव करती हुई दुग्धवती गाएं। जैसे विश्व के जीवित जीवन का मूर्त रूप ग्राम-प्रांगण में अटल विराजता।

पीपल के नीचे उस मिट्टी के घर के आंगन में दीपाली का घर। उसके घर अभ्यागतों की भीड़। हाँ, उसी छोटे से घरौंदे में। साफ-सुथरा घरौंदे, दीपावली की रात, दीपों का मेला, पुतली, दीपाली, प्रतिवासी बालिकायें, शङ्ख, घण्टा, गेंदा, चम्पा के हार, नारियल के लड्डु, गुड़, बिंदी, मुरमुरे, किसी बात की न कहां कमी, न कहीं त्रुटि।

बात न थी बड़ी, न थी छोटी, दीपावली के दिन उसके घरौंदे में पड़ोस की बालिकाएँ अपनी-अपनी गुड़ियों के साथ एकत्रित थीं। काली की पूजा हो रही थी। यों तो दीपाली और सेफाली—गुड़िया सी वह दोनों गुड़िया लिये खेला करें। दीपाली के उस गद्यपारचे की बड़ी-

सी गुड़िया से सब लड़कियों का मोह हो गया था। ईर्षा-लोलुप दृष्टि से वह सब उसे देखा करता। उस सुन्दर, सुपरिच्छेद-धारिणी पुतली को एक बार गोद मे लेने के लिये विनती करती थी। और तब उस गोटा लगे लहँगा, रेशम की ओढ़नी, चाँदी का हार पहने हुई गुड़िया को अपनी गोद मे लिटाये-लिटाये, 'आ-आ री निंदिया आ जा' कहती हुई दीपाली कह दे—"हल्ला मत करो, मेरी मुन्नी की नीद खुल जायगी।"

"सोती कहाँ है? वह तो जागती है। ज़रा सा दे दे दीपा।"

"चुप-चुप, सो रही है मुन्नी।" फुसफुसाकर दीपा कहती।

"दे बहन, कैसे लाल-लाल, फूले-फूले गाल हैं। मेरी लल्ली छोटी सी है, ऐसी मुन्नी किसी के पास नहीं है।"

"इसे यदि तू मुझे दे दे, तो इसके बदले यह चारों पुतलियाँ मैं तुझे दे दूँगी।" श्यामा कहती।

तब सिहरकर दीपाली मुन्नी को हृदय से लगाकर कहती—"बाप रे ऐसा अंधेर भी कहीं हुआ है! इसे मामा जी शहर से मेरे लिये लाये थे, अपने बच्चे को कहीं दूसरे को दिया जाता है मेरे बिना यह रोयेगी।" पुतली लिये वह घर-बाहर खेलती। खेल-खेल कब वह मा बन बैठती, सो वह स्वयं ही न जान पाती।

दीपाली रात्रि को सोती तो मुन्नी को छाती से लगाकर। वर्षा में वह स्वयं भीगती, किन्तु अपनी मुन्नी को आंचल से ढँककर उसे वर्षा से बचाती, घर के कोने में बैठती और पैर हिला-हिलाकर गुनगुनाती।

मिट्टी का छोटा घरौंदा, लोहे, पीतल के छोटे-छोटे बर्तन, मिट्टी की छोटी कासी, छोटे-छोटे प्रज्वलित दीप और बालिकाओं का मिष्ट-मधुर हास्य रव था—उस दीपावली की रात में, दीपाली के घर—बस इतना ही।

हाँ, सो प्रभा कहती—"ले, अब उठ दीपा, पूजा खतम है, अब परसाद बाँट दे।"

वह मुन्नी को गोद में लिये-लिये उत्तर देती—"देखती नहीं, यह सो रही है, जाग जायगी, दिन भर के बाद अभी तो सोयी है। तू ही बाँट दे।"

वह थी उस बाल्यजीवन की नित्य की बातें। शायद उन बालिकाओं की मानस-कल्पना में भविष्य का मातृत्व जीवन बिखेरता और तब शायद वह अपने ही अनजान में कह उठतीं - "पुतली जी उठ—"

(२)

सो वैसी ही एक और दीपावली की रात्रि थी। उसकी कुटीर में था अंधकार का साम्राज्य, एक खासा निरभ्र रूप अंधकार का। और उस अन्धकार का स्तर भेद कर उसका अतीत वर्तमान में वाङ्मय-सा हो उठ रहा है। उसकी कुटिया के चारों ओर थी दीपावली की खुशीभरी मुसकान और कुटीर में था राशि-राशि अन्धकार।

और तब विचार उसका, चित्त उसका, उसी स्वप्निल अतीत में भटका मर रहा था। और तब ? हाँ, उस किशोरी के मानस की माता, मन के कोने में जो एक जन्मसिद्ध अधिकार लिये माता दबकी बैठी रहा करती है, विश्व-प्रकृति में व्यापी जिस माता की भावना नारी प्रकृति में स्वाभाविकता से रमी रहा करती है—वही विश्व का सत्य, विश्व का जीवन मातृत्व उसका सफलता के आनन्द से मग्न नृत्य कर उठा था उस दिन।

उस एक दिन। हाँ, थी न वह भी एक ऐसी ही दीपावली की रात्रि। अन्तर था उस दिन केवलमात्र इतना ही कि दीपमाला शोभित रम्य अट्टालिका, विपुल ऐश्वर्य, दास-दासी, कार्तिक सम पति की गृह-लक्ष्मी बनी रानी-सी पलंग पर पड़ी पड़ी उस खेल की गुड़िया को उसने जीवित अपनी गोद के समीप पाया था, और कदाचित् मन ही मन वह गुनगुनाहट उठ पड़ी थी—"पुतली जी उठ।"

तब एक रङ्गीन सपने में वर्ष का वर्ष व्यतीत हो गया था, दिन रात उस पुष्पा से वह खेला करती, चूमती, प्यार करती, नहलाती, दूध पिलाती, रात दिन उसका मुंह निहारा करती, पालने पर झुलाती और झूम झूमकर गाती—"पुतली जी उठ" कभी उसे चिकोटी काटती, हंसाती, धमकाती और जब पुष्पा ओंठ फुला फुलाकर रोती, तब स्वयं दूर खड़ी खिलखिलाती।

हाँ, सो उस बालिका के खेल की गुड़िया ही न जो उठी थी उस दिन दीपाली की गोद में। उस छोटे घरौंदे में ही तो पा लिया था उसने उस पुतली को—मा जो वह धरती पर गिरते ही बन बैठी थी न।

पति कभी मुंह फुला कर कह देता—"पुष्पा को पाकर तुम मुझे भूल गयी हो।"

तब वह मुस्करा देती—सो भी एक रङ्गीन मुस्कान जिस मुस्कान का मोह पति को उन्माद कर देता, उसकी बाहें बढ़ जातीं और पत्नी उन बाहों में सिमट आती।

फिर भी पति उसके कान में फुस फुसाकर कहता—"किन्तु मैं कभी भी किसी के लिए तुम्हें इस तरह से भूल नहीं सकता।"

तब वह धीमी धीमी हँस देती, कहती—"सच कहो।"

"सच ही। आजमा कर देख लो।"

"देखूँगी एक दिन।" एक नन्हीं बालिका-सी कहती दीपाली—"देखूँगी—देखूँगी—एक दिन।"

सो वह भी तो एक रात थी—नहीं भी कैसे? थी यों ही प्रदीप प्रज्वलित दीपमालिका शोभित एक प्रफुल्लित रात। वही रात, जिस रात में उसने पाकर खोया था। रिक्त, सर्व शान्त होकर खोना। सुना भी था कभी ऐसी बात किसी ने? खोना-खोना, निःशेषकर खोना। नहीं, उसके लिये बच ही कहाँ पाया था कुछ भी।

वह वज्रस्वर ध्वनित हो रहा था प्रदीप उज्ज्वल रात्रि के स्तरमें—"तुमको मैंने त्याग दिया दीपाली।"

सो तब भी वह प्रदीपों को संभार, सँजोकर रख रही थी—वातायन पर।

एक बार शायद वह कांपी थी कांपी थी घनपल्लवित नेत्र ऊपर को—ठीक पति के मुखपर पल भर के लिये आबद्ध हुए थे।

तब पति ने अविचलित स्वर से कह सुनाया था—"तुम्हारी मा का कलङ्क—"।

धरती शायद तब दीपाली के पैर तलेसे धंस गयी थी! परन्तु किया

उसने केवल इतना ही था कि दोनों हाथों से कानों को दबा लिया और स्थिर गति से पुष्पा को उठाकर बाहर को चल दी थी।

उस स्वर को सुनकर वह पुनः रुकी थी और तब उसने सुना था—"मेरी बच्ची कल-ङ्किनी माता के साथ नहीं रह सकती है।"

दीपाली तब लौटी थी और वैसे ही धीरे से पुष्पा को सुला दिया था, फिर निकलकर चल दी थी।

और प्रतिवाद ? शायद प्रतिवाद कर सकती थी, कह सकती थी—बच्ची तुम्हारी कैसी ? कब पाया तुमने और कहांपर इसे ? कदाचित् वह उच्च स्वरसे कह सकती थी—झूठ, इसपर तुम्हारा कोई भी अधिकार नहीं है, यह मेरी है, कौमार्य के प्रथम प्रभात में घरौंदेकी धूलि में इसे मैंने पाया था, इसकी पूर्ण अधिकारिणी मैं हूं मैं—मैं तुम नहीं। वहां से मेरी आत्मा ने गान गा गाकर इस पुतली के निष्पन्द शरीर मन में जीवन का महामन्त्र—मृत संजीवनी मन्त्र फूँक दिया था, दिन रात फूँका करती।

किन्तु नहीं, उसने यह सब कुछ भी नहीं कहा था, वरन निकल कर चल दी थी।

सो यह अन्धकार ? विश्व की देहरी में जैसे वह विकराल दैत्य बांह पसारे, धरना देकर बैठ गया था।

थी वह भी दीपमालिका रात्रि ही। यह भी एक दीपमालिका रात्रि। था—वह भी एक पल। कमल-सा कौमार्य, आई थी वह भी दीपहारों की साड़ी पहने, जूही की पखुड़ी-सी फूली रात। था कुमकुम की डिबिया-सा वह किशोर। आई थी प्रज्वलित दीप हाथों से शोभित-सी वह रात्रि, था जलन्त अङ्गार सम वह यौवन; पहुँची थी दीप-शिखाओं में रमी उल्का सम वह रात्रि।

और यह अन्धकार ? दीपाली आँखें फाड़-फाड़कर कुटीर के चहुँ ओर देखने लगी। देखते-देखते गुनगुना उठी—"पुतली जी उठ।"

पुतली ? सहसा वह चौंकी। अपनी एक दुर्बलता लिये वर्ष की इस आगन्तुक रात्रि का वह अपमान करने बैठ गयी है ?

और तब दीपाली ने अन्धकार में टटोलकर दीप निकाले, उनमें तेलबत्ती संजोरकर जलाये, द्वारपर उन्हें रख दिया और फिर छोटी मिट्टी की काली मूर्ति को आले पर से उतार लायी, दीपों को उसके चहुँ ओर रखा, तब उसकी आरती करती हुई गुनगुनाने लगी—"पुतली जी उठ—।"

सो इस बार ! शायद दीपरात्रि ही को मृत संजीवनी सुधा पिलाने की थी उसकी वह पुकार ।

मृत्युञ्जयी

सो उस हेमनिभ सूर्य-रश्मि रक्तराग में मुर्च्छातुर श्वेत पद्म, अर्द्ध उन्मुक्तपंखुड़ियों पर द्विपहर रागिनी शंखध्वनि गुंजरित किया करती। सो वह सीता की लट-सी सीता तब भी हेमन्त के चेयर से टिकी इठलाती; तीखे वाण तानती, हाथ पर रखी छोटी डिबिया दिखलाती हुई कहती—"है इस डिबिया ने खरीदा तुम को। पांच हजार का या दस हजार का खरीदा आदमी भी कहीं अपने प्रभु पर आज्ञा आदेश दे सकता है? आज चाय का ट्रे लाओगे तुम, मैं नहीं। मैं तो इस डिबिया की स्वामिनी श्रीमती सीतादेवी हूँ।" रौप्य निर्मित छोटी डिबिया, ऊपर मीना किया हुआ मोर की सुन्दरतर जोड़ी, भीतर रक्त जासौन-सा सिन्दूर। कौतुक से भी अदम्य कौतुक का हेमन्त फाग उठाता, झूम-झूम कर कहता—"अजी, डिबिया का खरीदना क्यों? पूजा कहो पूजा, हम पुरुष देवता की पूजा—"

मध्यपथ में सीता रूठकर कहती—"वाहरे देवता, दस हजार, यों बिके हुए आदमी भी कहे अपने को देवता, देवता, लड़की के घर वालों का रक्त चूसने वाला भी करे देवत्व का अहंकार, वाह वाह।"

"कोरा झूठ।" हेमन्त निर्लज्ज हँसी से मूछों को चमकाता कह चला—"वह सब? रुपये, दान दहेज? हां सिन्दूरदान की भेंट कहो।"

"सिन्दूर की भेंट?" विस्मय सीता के स्वर में प्राणवन्त हो उठा।

"वही ही। पूजा—देवार्चना में नैवेद्य, फल-मिष्ठान्न, क्या यह सब नहीं लगते? अजी देवता की आराधना क्या कोई सहज बात है? इतना सब करने पर तब कहा देवता प्रसन्न होकर वरदान देते हैं। वह फल फूल आदि होते हैं उनकी भेंट, बस वैसे ही हम देवता जो कि सिन्दूरदान कर क्वांरी की सफेद मांग को सिन्दूर से महिमान्वित कर देते हैं एवं उसी सिन्दूर के बल पर एक घर की स्वामिनी याने रानी बना देते हैं—बस वह दान-दहेज है उसी की भेंट यानी हम देवताओं की भेंट। समझीं न। सुहाग का सिन्दूर क्या उसकी तुलना भी है कहीं?"

विपुल विस्मय से सीता भर उठी—"प्रतारणा अपने आप और दुनियां से भी। देवता बनने का दम्भ करते हो, उनसे अपनी तुलना करते हो, नैवेद्य आदि है हम मानव के न कि केवल तृप्ति सन्तोष के लिए, नहीं वरन यों कहो कि हमारे बिखरे हुए चित्त को समेटने के लिये है यह सब। धूप-दीप, चन्दन आदि की गन्ध में एक ऐसी निविष्ठता, ऐसी एकाग्रता, शान्ति, तृप्ति ऐसी एक शक्ति है—जो कि हमारे व्यग्रचित्त को एकाग्र कर देती है। और यह जो है सिन्दूर का मोल-भाव करना। पूछती हूँ सिन्दूर जैसी महान वस्तु भी कहीं पैसों से बिकी है? कहते शर्म नहीं आती?"

"शर्माना भी क्यों? अपनी बातों के आगे तुम किसी की सुनती भी हो? मैं कहती हूँ यह दान-दहेज है सिन्दूरदान की भेंट, तुम कहती हो नहीं। अच्छी बात है, यदि एक बार मैं तुम्हारी बातों को मानने को तैयार भी हो जाऊँ, किन्तु कहो भी तो सही तुम्हारे पिता ने मुझे कौनसा धन दे डाला है? एक फूटी कौड़ी तक नहीं दी।"

सीता के बक्र भौंह वैसे ही सिंकुड़े—"और यह घर?"

"रहती जो थीं तुम इसमें। मानता हूँ यह भी है उसी सिन्दूरदान का अर्घ—पुष्प परन्तु मुझ पर कौन सा एहसान किया? मिस्टर सकसेना को तुम्हारे पिता यह घर दे चुके थे, फिर दान की सामग्री वह लौटा कर भी कैसे लेते? किन्तु रानी, तुम्हें समझाते-समझाते गला सूख

गया, नरम हाथों का एक प्याला चाय—"

मुसकराती सीता उठ पड़ी !

[२]

सुख ऐश्वर्य में रमी सीता पति प्रेम की आवेष्टनी से जैसे फगुआ खेला करती—झूम-झूम कर ! कभी हँसती, कभी इठलाती, विचित्र वर्णों की साड़ी, अलंकार भूषिता वह हेमन्त से टिककर बैठी कार चलाती, पार्टी, डिनरों में पहुँचती, कभी पियानो के साथ काठ की उस्थित हंसी खुशी के केशर गुच्छ को बिखेर देती—और जब मित्र-बान्धवों में प्रशंसा का झरना झर पड़ता, तब वह अपनी काजलकोर आंखों को पति के मुग्ध नेत्रों में पल भर के लिए गड़ा देती। एक विजित गर्व से उसका क्षुद्र हृदय अहंकार से बोझिल हो उठता। सुख शान्ति के भीतर मानो एक मीठे सपने की नदी में सीता बहती चली जाती।

इतना तो निर्मूल ही है; किन्तु तो भी एक मोह। उसे कभी पथ-रोध कर ही बैठता—आंगन में का वह वेदी मध्य का कदम्ब वृक्ष। श्वेत पद्म के गुलाली पखुड़ियों में न जाने उसकी कौन-सी स्मृति, कौनसा असमाप्त सपना लिपटा रहा आता—जो कि उसके सुख-शान्ति को अश्रु कलंकित, अभिशप्त कर देता।

ऊपर की खुली खिड़की में खड़ी थी सीता, नीचे था वह पद्म वृक्ष—जैसे उसे आलिङ्गन करने को बांह बढ़ाकर खड़ा। खड़ी थी सीता—पद्म पर आबद्ध उसके घन पक्ष्म शोभित, आयत, मदभरे नयन।

वह गुलाब आभायुक्त बृहत् पद्म—हां वही पद्म—अनमनी-सी—अतीत के कोई निभृत कोने में पहुँच गयी थी—वह सीता और तब न जाने एक कैसी अस्वच्छन्दता में जी उसका भर उठा। एक छुटे हुये सपने के पीछे जैसे उसका मन का प्राण भटक पड़ा।

दिलीप—वह श्याम देश का राजपुत्र-सा दिलीप। उसके प्रथम प्रेम की दीप-शिखा वह-वही दिलीप और यह पद्म का वृक्ष। जैसे उन

दिनों का साक्षी स्वरूप आज भी पद्म के श्वेत दीवारों को उजियारे खड़ा रह रहा है, हाँ, एक सतर्क प्रहरी की भाँति।

विदुषी, धनाढ्य कन्या सुन्दरी सीता। और प्राचीन भावापन्न वह दिलीप सो फिर भी अनमेल का मेल होकर ही रहा था न एक दिन—वही सिन्दूर के वरदान से। मानो प्राच्य और पाश्चात्य के मिलन का हास्यकर एक नाट्याभिनय हो।

"रानी सीता!"—मधुर वह सम्बोधन!

चौंक चौंक कर, हंस हंस कर लौट पड़ी सीता पीछे। लज्जित व्यथा से विचार उठा उसी पल—किस अनोखे सपने के पीछे भटकी मर रही थी वह अब तक? यही तो है शिक्षित, भद्र उसका अपना ही पति।

और वह दिलीप? अयाचित रूप से हठात् एक दिन धूमकेतु की भाँति पहुँच गया था उसके महावर रंगे जीवन में—समाज की बन्धनों में जकड़ा जकड़ा। और ठीक वैसे ही सहसा एक दिन अन्तर्ध्यान हो गया विश्व युद्ध के प्राङ्गण में। फिर उसी भांति आहुति भी चढ़ गया उसी पिपासित शिखा की अग्नि स्फूलिङ्ग में।

सो सूनी हो गई थी उसी दिन चांदी की चमकीली सिन्दूर भरी डिबिया। अवहेलना से उस दिन एक बार सीता ने देख लिया था उस डिबिया को फिर उदासी से देख लिया था पलभर अपनी सूनी मांग को, सो अकारण हो उठ पड़ी थीं आंखें उसकी उस कदम्ब पर एक बार। उस एक रात की बिदा-वेला, उस एक व्यक्ति की तप्त श्वास, उस एक अभागे की प्रेम-कथा।

"किसके ध्यान में मग्न हो रानी?" कौतुक, हंसी की मादकता बिखेरता पूछ रहा तब हेमन्त।

सिहरी सीता—क्या से क्या सोचने बैठ गई थी वह? आदर से उसने हेमन्त का हाथ पकड़ा, बोली—"डान्स में नहीं चलते?"

[३]

श्रावण रात्रि के बर्षन श्रान्त मेघ में थी एक ध्यान लीनता, शेष

रात्रि के अधर में तब भी रमी था प्रथम प्रहर की रुपहली स्मृति। निशाचर पक्षि के नेत्र में निद्रा फिर भी झपकियाँ न ले पाती।

सो तब सूनी सेज के प्रति हेमन्त विरक्त विराग से निहारता। बात जैसे पुरातन सी थी। निद्रा के घोर में वह प्रायः ही अनुभव करता सूनी सेज को वैसे ही सोचता वह शायद् बाथरूम में गई होगी या तो चित्र आंक रही होगी, हो सकता है छत पर टहलती हो। किन्तु आज न जाने क्यों उसके शिक्षा मार्जित अन्तःकरण पर सन्देह की एक क्षीण सी छाया पड़ गई—तो इस विधवा विवाह से क्या वह वास्तविक ही प्रतारित हुआ ? क्या सीता—? नहीं नहीं, वह दृढ़ता के साथ अस्वीकार करना चाहने लगा—नहीं ही। किन्तु न जाने क्यों फिर भी वह उठा एवं निःशब्द गति से सीता का अन्वेषण करने लगा।

खोजता, ढूंढ़ता हेमन्त कदम्ब के नीचे आकर खड़ा हो गया और जब वह हंसकर कुछ कहने को हुआ, तब हठात की करुण वेदना से जी उसका ओत-प्रोत हो गया और वैसे ही सहसा सिहर कर वह पीछे हटा—किसकी खोज में आकर और किस अभिसारिका से हो गई उसकी भेंट ?

पल पल में मानो वह नारी हृदय की गोपन वार्ता से परिचित हो गया और दूसरे ही पल क्रोध, ईर्षा, घृणा के स्थान पर जाग पड़ी करुणा। वह उसी शब्द हीन गति से अपने कमरे में लौट आया।

उषा की रक्तराग बेला में म्लान क्लिष्ट क्लान्त एक चोर की भाँति पहुँची सीता पति—शय्या पर। और अभिसारिका सीता जब निशब्द एक ओर दबकी रहना चाहने लगी, तब करुणा की एक मूर्त गुजनाआकार विशिष्ट हो उठी—"रानी सीता" चकिता शंकिता नारी सिहर उठी—"तुम जाग रहे हो ?"

"सीता !"

"क्या नित ही यों जागा करते हो ?" मानो उसके ही अनजान में में प्रश्न वह कर बैठी।

"सीता !"

"मैं—मैं ? हां !, वहां बाहर गई थी !"

हेमन्त करुणा से हंसा—"नहीं कदम्ब के आह्वान से जाना पड़ गया था तुम्हें समझीं न रानी ?"

विद्युत द्रष्टा वत सीता उठ कर दूर खड़ी हो गई। कम्पित कण्ठ से कह सकी बस इतना ही—"तुम—तुम—"

"नहीं, हटोमत, दूर मत भागो, लज्जा कैसी ? अपने प्रथम पति की स्मृति यदि हृदय के किसी कोने में रह गई हो, तो विस्मय का है भी क्या ?"

वह हताशभाव से बैठ गई—हाथों से मुंह ढांक कर कहने लगी—"जब कि मैं सोच रही, जान रही कि सब कुछ का अन्त हो गया है—उसी अतीत में। उस अयोग्य, असभ्य, अशिक्षित के लिए न कभी इस काम में प्रेम लगा था, न भी जागने की सम्भावना ही थी। और फिर जब एक की मृत्यु ने, हां उनकी मृत्यु ने जब सब कुछ का अन्त कर दिया तब—तब यह—वह, मैं नहीं जानती यह क्या है ?"

हेमन्त ने आदर, प्रेम, सम्मान से पत्नी को अपने निकट बैठाया, बोला—"विश्व के आदिम सत्य को अस्वीकार करना जो चाहा था तुमने सीता।"

"आदिम सत्य ?"

"है। मृत्युञ्जयी है। न यह प्रेम।"

"जरा ठहर कर हेमन्त पुनः बोला सिन्दूर दान का महत्व उसका प्रताप अब समझीं न।"

ना समझ की भांति केवल पति के मुख को निहारने लगी।

जीवन का एक दिन

उस रात में कृष्ण पक्ष की अँधेरी बूँद-बूँद कर चू नहीं पड़ी थी विश्व पर मानों आकाश के नीचे एक काली चादर बिछ गई हो। केवल वेश्या पल्ली में शायद वह अँधेरी पराजित थी। सज्जित गृहों के उन्मुक्त वातायनों से बिजली का प्रकाश निकल कर राज पथ पर पड़ रहा था। तबला और सारंगी की ध्वनि में मिला हुआ नारी का स्वर उस रात के तन में बसे हुये पवन के प्रत्येक कम्पन में माथा पीटता फिर रहा था। उस स्वर में और चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु खुशी नहीं थी इतना तो सही ही है।

एक सुन्दर कार उच्च अट्टालिका के द्वार पर आ रुकी। आरोही युवक उतरा और हाथ पकड़कर उसने गाड़ी के भीतर से जिसे उतारा उसे सुन्दरी न कह सकने पर भी कुत्सित भी नहीं कहा जा सकता। उसकी लाल जार्जेट की साड़ी पर, फिर मुँह पर पोस्टलाइट का मुट्ठी भर प्रकाश आकर गिरा और उस प्रकाश में उसके स्वभातुर नेत्र हँस से पड़े। अट्टालिका का द्वार खुला, तब तरुणी के साथ युवक ने अन्दर प्रवेश किया। द्वितल की सीढ़ियों को तय करते करते युवती एवं अर्द्धवयसी स्त्रियों के कौतुकपूर्ण नेत्रों ने उसे घेर लिया।

"आरी रानी!"—द्वितल के कमरे से आभूषणाभूषिता वृद्धा नारी ने उसे पुकारा।

स्त्रियाँ उसे घेरकर खड़ी हो गईं। पलंग के सफेद चादर पर युवक चुपका बैठ गया।

"क्या नाम है तुम्हारा—कमला, विमला, विभावरी, विद्याधरी, कौन-सा नाम है तुम्हारा ?" इठलाकर एक ने पूछा. किन्तु उस प्रश्न का उत्तर किसी ने नहीं दिया। कदाचित् उत्तर देने वाली के विस्मय विमूढ़ नेत्र गृह शय्या के भीतर तक स्तब्ध रह गये हों। और शायद ऐसे ऐश्वर्य, ऐसी विलासिता की भावना उसके मन में पहले कभी न आई हो। या तो उस छोटे जीवन की परिधि में इस ऐश्वर्य की कल्पना भी कभी उठ न पाई हो।

"कैसी गंवारिन को लाये हो विनय ?" किसी ने पूछा।

"चुप रह गुलाब, विनय की आराध्य देवी है, देखती नहीं ?"

परिहास से सब की सब खिलखिला पड़ीं।

"अरी ओ रानी साहबा, ज़रा इधर भी तो देखो क्या नाम है तुम्हारा ?" तीसरी ने पूछा।

उसके स्वप्नातुर नेत्र भाव-विलासमयी नारियों के मुँह पर पड़े और वहीं अटक भी रहे। ऐसा सुख, ऐसे वस्त्र-भूषण की भावना तो उसकी दुनियाँ में थी ही नहीं। उसकी दुनियाँ ? विचार पल भर में उसके मन में विस्तृत हो गया हाँ, उसकी वह परिचित दुनियाँ। जहाँ न तो कोई रंगीन गुलाब था, और न सुगन्धित रजनीगन्धा। एक पानी से भीजी हुई द्वितीया की रात अपनीसी सहेली, अपनासा टूटा घर, अपने से नमक-रोटी, उरद की दाल, साग-पात, लाल मोटे चांवल दिन रात राक्षसीसी क्षुधा, चिर परिचित उपवास और बस !

"बहरी है प्यारी ?"—पूछा एक ने।

"नहीं कमली देखती नहीं, घमण्डिन है। लेकिन यह उठती हुई जवानी का घमण्ड कब तक ? एक दिन हम जैसी दशा होगी ही।"

तरुणी ने अवाक्-विस्मय से उस व्यंग को सुना। शायद समझी ! शायद न समझी ! ऐसा बड़ा विस्मय उसके जीवन में प्रथमबार ही था। माता पिता के साथ वह भिक्षा के लिए कभी नहीं गई, तब छोटी थी। किन्तु पिता की मृत्यु के बाद माँ को जब लकवा मार गया, तो बूढ़ी दादी के साथ वह भी जाया करती थी। और दादी के साथ साथ जिन

घरों के द्वार पर वह झोली पसारती थी वहाँ ऐसी नारियों के साथ उसकी भेंट होती भी न थी।

"क्यों उसे तंग करती हो? आ बेटा रानी, पलंग पर बैठ! घर-मकान तेरा ही है। कुछ खायगी?" बूढ़ा ने स्नेह से उसे बैठाया, तरुणी स्तब्ध थी। आनन्द, खुशी से या किसी एक आकुलता से सो कहना जरा कठिन है।

"यह अपना नाम क्यों नहीं बतलाती?" एक ने पूछा।

"बतला देगी, अभी भागी थोड़े ही जाती है। कह तो दे अपना नाम बेटा।" बूढ़ा ने फिर कहा।

"नाम? परमा है।"

इसके बाद वही हुआ जो होना था। हँसी की बाढ़ में वही वही तरुणी हँस न सकी और उस हँसी की जाति के प्रथम परिचय के मुख में मिल गया उसे—हँसी नहीं—किन्तु एक अनजान भय।

"बस, बस हो गया। अब हँसी रोको।" आयी हुई हँसी को रोक कर बूढ़ा गम्भीर होने की चेष्टा करने लगी। युवक वैसे ही मुस्कराने लगा "कुछ खायगी बेटा?"

"परमा बेटा कहो मौसी।" मुँहमें कपड़ा दबाकर स्त्रियाँ हँसने लगीं।

"चुप रहो। तुम्हारा नाम मनमोहिनी हुआ, समझी बेटी??" बूढ़ा ने कहा।

"नहीं—परमा है पूछो न बाबू जी से! इनके घर मैं कई बार भीख माँगने गई थी।"

"भीख माँगती थी तुम? तो यहाँ पर कौन सी भीख मांगोगी?" परिहास में किसी ने पूछा।

और परमा का उत्तर सुनने के लिए स्त्रियाँ जब उतावली हो रही थी, तब उत्तर आया परमा के निकट से—अब भीख न माँगना पड़ेगा। बाबू ने कहा है—मैं पलंग पर बैठी बैठी पान चबाया करूँगी और अब सिरिया, रधिया, भंगी बाबा मुझे घर से निकाल देने की धमकी भी न दिया करेंगे।"

और परम आश्चर्य तो यह है कि इसबार व्यंग करने जाकर भी स्त्रियाँ चुप रह गयी।

"ठीक तो है। कुछ खायगी वृद्धा ने कहा।

"हां। तीन दिन की भूखी हूँ। माता।"

"भूखी हो, और इतने जेवर पहने हुये भी ? एक स्त्री कह उठी।

"बाबू ने यह सब मुझे आज ही दिये हैं।"

"बाबू से तुम्हारी कब से पहचान है ?"

"इनसे ? मैं क्या जानूँ। दादी के साथ इनके घर भीख माँगने जाया करती थी। एक दिन इनको मैंने देखा था, बस।"

"फिर आज यह कहां मिले ?" कौतुक से प्रश्न हुआ ?

"नदी के किनारे ?"

"तो वहां इनसे मिलने की तैयारी में थीं ?"

"इनसे नहीं। नदी में मैं जगह लेने गयी थी ?"

"जगह कैसी ? नदी ने क्या तुमसे कह दिया था कि मैं तुम्हें जगह दूंगी ?"

"नहीं। नदी कहीं बोली है ?" परमा ने सरल स्वर से उत्तर दिया।

"फिर कैसे जाना कि वह जगह देगी ?"

"पानी तो वह सबको देती है। फिर मुझे जगह क्यों न देगी ?"

यह एक ऐसा प्रश्न था जिसके आगे उच्छृङ्खला ने, प्रगल्भता ने पल भर समाधि ले ली।

थोड़ी देर के बाद लम्बी स्त्री ने पूछा—"और तुम्हारी दादी ?"

"उन्हें उसी नदी में बहा आई थी—रात की बेला में चुप चाप।"

"और मां ?"

"उन्हें तो कई महीना पहले दादी और मैं नदी में बहा आई थीं न।"

"खाना खालो।" वृद्धा ने कहा।

गरम गरम पूड़ी और साग से परमा तृप्ति पूर्वक भोजन करने लगी। कमरे में थी केवल वह और भोजन वस्तु पूर्ण थाली।

तबला, सारंगी और नारीकंठ के गीत ध्वनि से अट्टालिका गुञ्जरित हो रही थी। पायल की झंकार इन्द्रपुरी को सन्देशा दे रही थी।

परमा को लगने लगा—दादी के मुख से सुनी कहानी के इन्द्र-लोक में वह पहुँच गई है और शायद इन्द्राणी का आसन उसी को दिये जाने का यह पूर्वाभास है; और यहां उसे लाने वाला यह बाबू कहीं स्वयं इन्द्र तो नहीं है? क्योंकि देवतागण प्रायः छद्मवेश में रहा करते हैं।

एक स्वप्न के भीतर से भोजन शेषकर वह उठी। हाथ-मुंह धोया। एक सज्जित कमरे में दर्पण के सामने वृद्धा ने लाकर उसे खड़ा कर दिया। शृंगार की सामग्री टेबल पर रखी हुई थी। वृद्धा ने उसे क्रीम; पाउडर, स्नो आदि का उपयोग करना बतलाया। कहा—"यह कमरा तेरा है परमी। जल्दी तैयार होले बाबू अभी आता होगा। बाजार से तेरे लिए सामान खरीदने गया है।"

वृद्धा चली गई और परमा आईने के सामने खड़ी खड़ी मुग्ध-विस्मय से अपने आपको निहारने लगी। इसके पहले उसने अपने को ऐसे निकट से कभी न देख पाया था। अपना रूप उसे मोहक कभी न लगा। नये कान के झुमके, हार, चूड़ियों की दीप्ति में भरे हुए मोह ने उसके नारी हृदय पर अपना पूर्ण प्रभाव विस्तृत कर लिया। और पाउडर, क्रीम की मनोहरता ने उसके हृदय पर लालसा को बैठा सा दिया।

"परमा रानी!" गृह में प्रवेश कर युवक ने पुकारा। सुन्दर रंगीन साड़ी, क्रीम आदि के साथ वृद्धा भृत्य सहित कमरे में पहुँच गई—"लो, सामान गाड़ी पर से उतार लिया है, मिलाकर देख लो।" स्त्रियां सामान देखने को पहुंच गई। हाथ का जला हुआ सिगरेट फेंककर विनय ने कहा—"सामान उठाकर रख लेना परमा। अच्छा, तो मैं चल रहा हूँ।"

"ऐसी जल्दी ! अभी तो कई घण्टे रात बाकी है।" बूढ़ी ने कहा।

"जल्दी जाना है। माता जी आज ज्यादा बीमार हैं"

"चले जाओगे ?" एक अनजान व्यथा से परमा ने पूछा।

"हां। काल रात आठ बजते बजते फिर पहुँच आऊंगा।"

मुझे यहां अकेली छोड़कर तुम चले जाओगे ? भीत पक्षी की भांति अपने में सिमटी-सिमटी परमा कह उठी। स्त्रियों के बीच घिरी वह एक अनजान भय से कांपने लगी।

"नहीं विजय तुमको तस्वीर बनाकर दिन रात तुम्हारे सामने बैठा रहेगा।"

"दिन को यहां पर तुम क्यों नहीं आ सकते ?"

इस परिहास को परमा ने सुना न सुना वह कह चली—"नहीं नहीं; यहां मैं अकेली नहीं रह सकती।"

"अकेली कहां परमा। यह सब तुम्हारी हैं, घर तुम्हारा है।"

"और तुम्हारा ?"

"मेरा घर दूर है।"

"तो वही मेरा भी घर क्यों नहीं ?"

"आह री बच्ची—"

वृद्धा ने उस प्रगल्भ स्त्री को डांटा—"चुप रह कुमारी। बिटिया डरो मत, बाबू की छाया में तुमको, डर काहे का ? दिन को विजय यहाँ कैसे पहुँच सकता है ? वह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है। सभा-समिति में लेक्चर देने जाता है, बदनाम न हो जायगा ?"

"समझोगी नहीं तुम परमा। समाज का एक व्यक्ति हूं। दिन को यहाँ कैसे आ सकता हूँ ? अगर कोई देखले तब ?"

"तो दिन में छिपकर आओगे ?" असहनीय विस्मय से परमा का स्वर रुद्ध हो रहा था।

"हाँ, अब समझीं तुम। छिपकर यहाँ आता हूँ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि दुनियाँ की दृष्टि से यहाँ आना पाप है।"

"और तुम्हारी दृष्टि से?"

"यदि मैं इसे पाप कहकर मानता तो यहाँ आता ही क्यों?"

"यदि तुम्हारी दृष्टि में—" सहसा परमा की दृष्टि अपने हाथ की चूड़ियों पर पड़ गई और एक मोह, एक नशा, उस दृष्टि में समा-सा रहा; बात वह पूरी भी न कर पाई।

"अच्छा तो परमा, आज के लिए विदा माँगता हूँ।" परमा सीधी होकर खड़ी हो गई—"नहीं, ठहरो। तुम्हारी नजरों में यदि यहाँ आना पाप नहीं है, तो उसे छिपाने की जरूरत ही क्या है?"

"दण्ड के भय से, इसके लिए मुझे सजा देगी दुनिया।"

"परन्तु अपने को अस्वीकार कर, दुनियाँ को मानकर कैसे चला जा सकता है? याने तुम दुनियाँ को मान रहे हो; क्योंकि दुनियाँ की दृष्टि में यह पाप है" परमा बोली।

"तुम क्या कह रही हो परमा!"

"यही कि छिपकर यदि यहाँ आना पाप नहीं है तो जाहिर में यहाँ आना पाप क्यों है?"

परमा के प्रश्न में क्या था कौन जाने, किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि उन विलासिनियों की परिहास प्रवृत्ति उस प्रश्न के आगे मर मिटी थी।

चित्र की भाँति स्त्रियाँ खड़ी रह गयीं; वृद्धा के नेत्र बाहर को निकल से आने लगे और विनय का मस्तक अपने आप नत हो गया।

केवल परमा का स्वर वर्षा के बूँद सा चू पड़ा—"जब तक तुम सच्चा उत्तर न दे सको, तब तक मुझे मेरी झोपड़ी में रहने दो। यहाँ पर मैं छिपकर जिस काम को कर सकती हूं जाहिर भी उसे कर सकती हूँ।"

चलते चलते परमा की आँखें आइने पर पड़ गईं और तब पल भर में एक मादकता ने उसे आछन्न सा कर लिया। उस दर्पण में? शायद वेश्या जन्म के मदिरापूर्ण प्याले का सन्धा छिपा रहा हो।

"परमा—"

सहसा परमा चौंकी। अपने हृदय की उठती हुई ध्वनि को मानो वह कान लगाकर सुनने लगी और तब भिखारिनी परमा राजरानी बन बैठी—उसी जीवन के एक दिन में मानो वह सब कुछ पा गई, सीख गई, विदुषी बन बैठी। कहा—"मैं चली।"

"जाओगी? अगर यह चैन, आराम पसन्द नहीं है तो चली ही जाओ। परन्तु जगह कहाँ मिलेगी?" विनय ने व्यंग से पूछा।

परमा ने संयत स्वर से उत्तर दिया—"ऐसी बड़ी दुनियाँ में जगह की कमी न होगी।"

"मिल जायगी? देख तो तुमने भी लिया था न? तुम्हारी ही झोपड़ी से तुम्हारे पड़ोसी तुम्हें निकाल रहे थे। यहाँ जैसा सुख, आराम कहां मिलेगा तुमको परमा?"

सुख—आराम?—परमा का जी जाने कैसा कर उठा। दर्पण के सामने वह खड़ी थी। आंखें उसकी अपने आप उठीं और दर्पण में गड़ सी गईं। उस वक्त? दर्पण में खड़ी थी एक छलनामयी विलासिनी और दर्पण के बाहर—ठीक उस छलनामयी के सामने खड़ी थी एक नारी अपने पूर्ण नारीत्व को सम्भाले हुए।

आइने की विलासिन और हृदय की नारी में होड़ थी। हारने और जीतने की खबर जीवन के एक दिन की डायरी में शायद लिखी हुई मिल भी जावे।

जातिस्मर

किसी भावुक कवि ने गाया—'दुनिया गोरख धन्धा।' परन्तु मैं कहता हूँ—है दुनिया अबूझ पहेली। न इस पहेली का कभी समाधान हुआ और न कभी होने का। प्रकृति की पीत-चोली में अजनित विचित्रता भरी पड़ी है। न कभी वह चुकी है और न चुकने वाली है। कभी किसी के नेत्रों ने यदि उसका एक अंश देख लिया, तो रोमाञ्चित, विस्मित हो उठता है। बस है इतना ही और सोचता है वह बस उसी की जानकारी बृहत्तर, महत्वतर है। फिर दूसरे की क्यों, अपनी ही बात कहूँ न—

ग्रीष्म-द्विप्रहर का सूर्य सिन्दूर से रङ्ग उठा था; परन्तु वन के गहन देश में थी एक अपूर्व स्निग्धता, पर्वत-निसृत छोटे-बड़े झरने मानो खेल में जुटे हुए थे। विचित्र-वर्ण के पक्षी-गण मधु अलाप में निमग्न थे। बन्दूक कन्धे पर लादे मैं आगे बढ़ा। मेरे पैर की आहट से झाड़ी-झुरमटों में खलबली-सी मच गई। छोटे-छोटे, रुई जैसे श्वेत खरगोश भाग निकले और एक बड़ा खरगोश लम्फ प्रदान कर उनके आगे हो लिया, इस दृश्य को उपभोग करता आगे बढ़ा। पहाड़ी नदी के कोर पर हिरन देख कर आनन्द, सन्तोष से बन्दूक उठाई, किन्तु जिस दृश्य

को देखा उसके आगे बन्दूक चलाने को हाथ न उठा, छोटा-सा बच्चा हिरनी के निकट, जो शायद भली-भाँति दौड़ न पाता हो, और वह एक असहायदृष्टि हिरनी की आंखों में, माता बच्चे को छोड़ कर भाग भी नहीं सकती थी। और ठहर भी नहीं सकती थी। उसकी शंका मिटाने के लिए मैं जल्दी-जल्दी एक ओर निकल पड़ा। हिरनी की शंका अवश्य मिटी, परन्तु मेरी शका घनीभूत हो उठी। सन्ध्या के अन्धकार में, मैं पथ भूल गया। चला और चलता ही रह गया जैसे एक निरुद्देश यात्रा हो।

जब जीवन से हताश हो गया। तब हठात् दूरागत दीप-प्रकाश को देख कर हर्ष—आशा से जी भर उठा। एक ओर व्याघ्र-गर्जन, दूसरी ओर सर्पों की फुत्कार, इन सबों से सतर्क होना, दीप-प्रकाश को लक्ष कर अतिद्रुत पहुँच गया, मैं पहाड़ की तलहटी में।

पहाड़ के नीचे छोटी-छोटी फूस की झोंपड़ियां थीं, जिनमें से एक बड़ी-सी झोंपड़ी के सामने भीड़ लगी थी। दो मशालों से उज्ज्वल प्रकाश फैल रहा था। मैंने झांक कर देखा,' पर कुछ देख न पाया। पत्थर पर चढ़ा, देखा लकड़ी के तख्ते पर स्तूपाकृत जंगली फूल। जनता उसी पुष्प-स्तूप की आरति उतार रही है। पुष्पहार, दीप-धूप, चन्दन चढ़ा रही है। आंखे मलकर फिर देखा और विस्मय से हतवाक् हो रहा—वह पुष्प-स्तूप हिल डोल रहा था। कौतूहली होकर भीड़ के अन्दर किसी प्रकार से प्रवेश किया और अन्त तक धक्के खाता हुआ पुष्प-स्तूप तक पहुँचा। देखा—वह केवल फूल का ढेर ही नहीं, उसके अन्दर एक बालक है। फूल, बेल-पत्र, तुलसी इतने चढ़ाये गये हैं कि बालक के मुख के अतिरिक्त सब अङ्ग-प्रत्यंग ढक गये हैं।

एक भद्र व्यक्ति से आश्चर्य से मैंने पूछा—"भाई, क्या बात है?"

"श्री अर्जुन जी ने इस कलियुग में पुनः जन्म ग्रहण किया है, हाँ, वीरता का पाठ विश्व को देने के लिये।"

"अर्जुन, कौन, अर्जुन!"

"अजी, वही महाभारतीय वीर अर्जुन, देवी कुन्ती के पुत्र अर्जुन।"

वचन समाप्त कर उसने पुनः बालक को प्रणाम किया। इस निर्बुद्धिता पर मुझे हंसी आ गई। मुझे हंसते देख कर व्यक्ति चिढ़ा। किसी प्रकार उसे शान्त कर पूछा—"कोई प्रमाण भी है?"

"क्यों नहीं—उनकी आकृति, उनकी जानकारी, उनकी बातें ही।"

"ठहरो, जरा मैं भी तो बातें कर लूं।"

कुछ व्यक्ति मेरी बातों से सहमत हुए। तब बालक को पुष्प-राशि से निकाल कर बैठाया गया और हम सब उसके सामने बैठ गये।

(२)

"मीठे बालक, किसके लड़के हो तुम?" मैं पूछ रहा था।

"इस जन्म के?"

"हां, भाई।"

"राघव किसान का लड़का हूँ।"

"घर कहां है?"

"बहुत दूर।"

"यहाँ, कैसे और क्यों आए?" जनता निस्तब्ध-भाव से हम दोनों को घेर कर बैठी थी।

प्रश्न सुन कर अर्जुन ने मेरी ओर आंखें उठाईं। उस दृष्टि को देख कर विमूढ़, वाक्हीन हो रहा। वैसी प्रतिभापूर्ण, वैसी अपूर्व दृष्टि शायद ही कभी देखी हो। "मेरा जी चाहता था न, अपने उन पुराने स्थानों को देखने को पहले मैं वहीं गया था। हाँ, द्रौपदी—पित्रालय के अन्तःपुर उद्यान में। वह उद्यान? बहुत खोजने पर ही उस उद्यान का स्थान निर्णय हुआ। वह स्थान अवश्य ही वही था—जहाँ एक दिन वह किसलय-सी लचकीली नारी—।"

इसके बाद उसने आंखें बन्द कर लीं। अधीर आग्रह से मैंने पूछा—"आंखें बन्द कर क्या देख रहे हो? क्या आंखें बन्द करने से

कुछ देख पाते हो ?"

उसकी जैसे ध्यान की तन्द्रा-सी टूट गई ।" हां, देख पाता हूँ, देख रहा हूँ—वही हरे हरे पुष्प-लतापूर्ण उपवन, पर्वत की मेघ-नील आभा, यहां धरती में आह नहीं, पवन में दाह नहीं । कदली कुंज पर बैठी शारिका बोल रही है । वह बैठी है द्रौपदी, तन्मय एकाग्रता से आँक रही है चित्र । पीछे खडी सखी भद्रा के नेत्रों में अतुलनीय विस्मय भर उठा है और उससे भी पीछे, कदली की आड़ में वह कौन खड़ा है ? हैं-हैं, यही है वीर अर्जुन ।"

"राजकुमारी के इस चित्र में जिस आकृति को आंका है तुमने, उसे कहां देखा ?" पूछ उठी भद्रा ! पकड़ी गई चोरी, लज्जा—नम्र, सिहरी कुमारी—"मैंने ? मेरे मन की आंखें सदा इन्हें देखा करती हैं न, सखी ! इनकी वीरता की जनश्रुति ने कब खोली वह आँखें, कब देखा इस रूप को सो तो मैं कुछ भी नहीं जानती हूँ सखी !"

विस्मय-श्रद्धा है भद्रा की रत्नाकारसम आँखों में कह रही है—"वह धन्य है राजकुमारी, तुम्हारा नश्रद्ध-प्रेम सार्थक है यह नारी जन्मा है, यह अर्जुनदेव की सब ठीक आकृति ही है ।"

वह कदली वृक्ष की आड़ में खड़ा अर्जुन—पुलकित, हर्ष विह्वल हो रहा है, हो रहा है न वह रोमाञ्च ।

बालक चुप हो रहा । लगा मुझे वह अपने आप में जैसे असहाय हो गया है । "क्या अब ?" पूछा मैंने ।

चौंक कर वह कह उठा—"वह गृहद्वार बाहर खड़े युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव । पुकार रहा है । वह मां देखो, खोलो द्वार, देखो कौन सी चीज लाए हैं हम ।"

"पुत्र जो भी लाए हो, वह तुम पांचों बांट लो ।" उत्तर दे रही हैं माता कुन्ती ।

"भाई, यह तो कहो कि उन पांचों भाइयों ने एक द्रौपदी से कैसे शादी की ? और उनकी कैसे निपटा करती थी ? कभी झगड़े भी हुआ करते थे ?" एक कौतूहली श्रोता ने पूछा । बालक के नेत्रों में अपूर्व

छाया व्याप गई। परम ज्ञानी की तरह वह कहने लगा—"अफसोस है, दुनिया में ज्ञानी, विद्वानों की कमी नहीं है, विशेषतः एक ऐसे विज्ञान, उन्नति के युग में भी ऐसे प्रश्न का उठना, यह केवल हिन्दुस्तानियों के ही नहीं, वरन मनुष्यमात्र के लिए है एक कलङ्क—एक इतनी बड़ी चीज़ को भी न समझ सकना।"

"भाई चिढ़ते क्यों हो? महाभारत में तो ऐसा ही मिला है। फिर तुम ही समझा कर कहो न।"

"क्या समझाऊँ? कभी और भी किसी नारी के पंच-पति सुना या पढ़ा है तुमने? माता का आदेश, मा की बातें, उस युग की सभ्यता में वेद-वाक्य के समान माने जाते थे। हो सकता है द्रौपदी-चरित्र को पूर्णतया प्रस्फुटित करने के लिए जरूरत थी, उन पाचों की पंच पाँडव की द्रौपदी की कर्तव्य-निष्ठता, एक अर्जुन की द्रौपदी में सम्भव नहीं थी। देखो—मेरी बन्द आँखों के भीतर किस प्रकार से मातृ-आज्ञा का पालन किया जा रहा है। स्वामी का अर्थ है प्रभु अधिकारी। युधिष्ठिर ने द्रौपदी को अपने अन्श में कन्या के रूप में लिया है, भीम ने सखी के रूप में, लक्ष-भेदी अर्जुन है उसका पति, नकुल ने भगिनी के रूप में, सहदेव ने माता के रूप में। एकाधार में ही नहीं, वरन एक ही समय में है वह माता, पुत्री, भगिनी, सखी, पत्नी। यह चमत्कार उग्र, कठोर, प्रेम, वात्सल्य, शान्ति-स्निग्ध रूप का विचित्र समावेश, धन्य है, यह कर्तव्य की निष्ठा।" कहते-कहते अर्जुन ध्यानमग्न हो रहा।

(३)

'क्या?'—देर के बाद पूछा मैंने।

तन्द्राजड़ीभूत स्वर था इस बार अर्जुन का—"परिपूर्ण रात्रि, पद्मवन में पद्मपंखुड़ी-सी द्रौपदी। गोद में सिर रखे पड़ा है अर्जुन, देख रहा है। उस पद्ममुख को-अनिमेष दृष्टि से—'तुम्हारी चोरी जिस दिन पकड़ी थी देवी,—हाँ उस कदली कुंज में'—

उठे हैं हाथ द्रौपदी के, अर्जुन के मुँह को दबा कर कह रही है—'चुप-चुप।'

'और यदि उस लक्ष्य को दूसरा कोई बिद्धकर तुम्हें ले जाता तुम्हें कृष्णा ?'

'दूसरा ? परन्तु द्रौपदी तो सती ही है न । जिस मूर्ति की मन में एक बार आराधना की उसने, पति वह उसी को मान सकती थी, दूसरे को नहीं । मन और शरीर एक ही बार किसी को पति का आसन दे सकता है । बार-बार नहीं ।'

अर्जुन हंस रहा है—'सतीत्व का अर्थ तुम क्या निकालती हो द्रौपदी ?'

'सतीत्व है वह एक-निष्ठता । यदि शारीरिक पाप, पाप कहलाता है तो मानसिक पाप भी पाप ही है ।'

'बात यह नहीं है कृष्णा, सतीत्व और असतीत्व का यह जो बिभीषिका नारी के लिए रचा गया है । है यह समाज मात्र की एक उच्छृंखलता रक्षा के लिए ही कल्पित भय दिखलाना । पुरुष है पालक, नारी प्रति-पालिका । सम्पत्ति का उत्तराधिकारी है, पुरुष-संतान । यदि एक नारी के एक ही समय दो पति हुए, तो सन्तान निर्वाचन करना असम्भव है कि वह किस पति की सन्तान है । फिर उत्तराधिकारी वही सन्तान कैसे बन सकती है ? एक भयानक अनियम, विशृंखलता अवश्यम्भावी हो जाती है ।'

'छुप-छुप, ऐसे पाप वचन कह कर सतीत्व का अपमान मत करो ।'

अर्जुन हँस रहा है ।

'कल युद्ध में जाऊंगा कृष्णा, तुम सी बुद्धिमती, गुणवती को कहने की जरूरत नहीं है, तो भी कह रहा हूँ । मुझसे भी ज्यादा यत्न मेरे भाइयों को करना । मैं मानता हूँ जानता हूँ देवी कि अपने कर्तव्य में तुम किस प्रकार दृढ़ हो, तो भी कह रहा हूँ, जिससे कि तुम अपने कर्तव्यों को सुचारु रूप से, सुनियम से निभा सको । नियम मैंने यह बनाया है कि तुम बारी-बारी से हम पांचों की सेवा किया करोगी । मैं अपने पति के अहंकार में तुम्हारे माता, भगिनी, कन्या आदि के स्नेह

कर्तव्य को भास करना नहीं चाहता हूँ। और सुनो उस नियमित काल में यदि हम में से कोई भी विरह करना चाहेंगे तो कुछ दिनों का अज्ञातवास अनिवार्य है।'

प्रस्फुटित चम्पा-सी देवी कृष्णा की मुसकान—'फिर जरूरत भी क्या थी इसकी देव ? नारी क्या एक ही समय में माता-भगिनी आदि का कर्तव्य पूरा नहीं कर सकती है ?'

'एक ही समय में नहीं कर सकती है न, बस उसे ही भली भाँति निभाने के लिए यह नियम है।'

'चुप क्यों हो गए भाई ?'

'मत बोलो, चुप रहो, सुन नहीं पाते हो तलवारों की झनझनाहट को ? देखो उस वीर अर्जुन को, रक्त से शरीर भीग रहा है और—और—' कहते-कहते जैसे बालक सो-सा रहा।

'अच्छा भाई, द्रौपदी का जब वस्त्रहरण हुआ, तब क्या वास्तविक ही कृष्ण ने द्रौपदी को—'

अर्जुन झुँझला उठा—'वह देखो राजसभा दुर्योधन की, लक्ष्मी स्वरूपिनी द्रौपदी खड़ी है और वह सत्य की मूर्ति युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ, देखो युधिष्ठिर अपने वचन को किस प्रकार निभा रहे हैं। द्रौपदी के वस्त्र-हरण की बेला है। आँखें खोल कर देखो, किस मन की शक्ति द्रौपदी-मुख पर आकार विशिष्ट सी हो रही है। इतनी शक्ति कहाँ विश्व की जो कि उन्हें विवस्त्र कर सके। यह देवी की ही शक्ति है न, जो कि उन्हें विवस्त्र न होने में सहायता दे रही है। अरे यह कौन ! माता गान्धारी पहुँच गई।' और इसके बाद अर्जुन मौन हो रहा।

देर के बाद किसी ने पूँछा—'युगों के बाद तुमने पुनः जन्म-ग्रहण क्यों किया है देवता ?'

''कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद फिर इतना बड़ा युद्ध नहीं हो पाया था न—जो कि आज विश्व में हो रहा है। यों जन्म लिया है !' मैंने ? नहीं तो, इस १९४४ के महासमर ने ही तो मुझे आकर्षित कर लिया है। यह

युद्ध कदाचित् धरती को ही मिटाना चाहता हो।" वह पुनः चुप हो रहा, उस के मुद्रित नेत्रों मे अश्रु की धारा बह चली।

भोर के पक्षी चहचहाने लगे। चकित रोमांचित मैंने आँख उठा कर देखा, प्रातः हो चुका था। अनमना-सा मैं चल पड़ा। चलते-चलते सुना—'यही है कलंकी अवतार। इन्हीं की बातें उस वर्ष अखबार छपी थीं।'

कोई कह उठा—'जाति-समर इसे ही कहते हैं।'

यह सब सुनते-सुनते मैं जैसे एक स्वप्नीली रात में बसा हुआ आगे बढ़ा।

× × ×

इस घटना के न जाने कितने ही वर्ष व्यतीत हो गए। उस दिन भोर रात्रि में मैं घम कलेवर होकर उठ बैठा। पत्नि शंकाव्याकुल-मुख से मुझे निहार रही थीं, हिला-हिला कर पुकार रही थीं।

मुझे जागते देख कर पूछा—'सपना देख रहे थे क्या? अर्जुन-अर्जुन कह कर क्यों चिल्ला रहे थे?'

जब वह मेरे पीछे ही पड़ गईं, तब आज उस घटना को उन्हें कह कर ही सुनाना पड़ा।

बाप रे, नारी भी कैसी हठी हुआ करती हैं। ईश्वर ही बचाये इनसे, हम निरीहप्राणी को।

सुहगा की बिन्दी

"बीबी जी !"—परदे की आड़ से नौकर ने आवाज़ दी।

उच्च अट्टालिका के एक सज्जित ड्रेसिङ्गरूम में वृहत् दर्पण के सामने खड़ी बाल संभाल रही थी सुनहली।

"क्या है ?" विरक्ति से पूछा सुनहली ने।

"कार्ड है जी।"

"अन्दर लाओ।"—कार्ड पर दृष्टि पड़ते ही सुनहली चौंक पड़ी। मुँह की मुस्कान झाँकने लगी—अच्छा तो फटी साड़ी पहनने वाली अनुपमा अब कार्ड भेजने लगी हैं। शादी हो गई है न! मिस्टर भी तो आये हैं। क्या लिखा है? मिस्टर खरे बी० ए० एल-एल० बी०। सुनहली गुनगुना कर कहने लगी—रूप? अनुपमा नाम के ठीक विपरीत है।

"उन्हें ड्राइङ्ग रूम में बैठा दो," नौकर से कहा, "बाबू जी हैं घर में ?"

"नहीं।"

"जाओ।"—कहकर वह प्रसाधन करने लगी। मन में बोली—बाबू जी को इन दिनों जाने क्या हो गया है, बस माता जी ने कह दिया कि सोना अब बड़ी हो गई है, जमाई खोजो। और वह चल पड़े

अपनी लकड़ी सँभालकर। भला इसकी क्या ज़रूरत है ? जिसे मेरी ज़रूरत होगी वह दस बार मेरे घर पर आवेगा। राजरानी तो मुझे होना है ही एक दिन। माँ भी जाने कैसी हैं। अब कल ही उन्हें कहते सुना—"मिला कोई लड़का ?" बाबू जी ने भी कैसा डाँट दिया —"इतनी जल्दी कहाँ से मिले, कोई बाज़ार का सौदा है जो खरीद लाता ?"

"ग़रीब से ग़रीब और कुरूप लड़कियाँ ब्याही जा रही हैं और मेरी सोना के लिए लड़के ही नहीं मिलते ?"

पिता झुँझलाकर बोले—"मेरी लड़की से उन साधारण लड़कियों की तुलना ? जिसका जन्म ही राजरानी होने के लिये हुआ है, उसे भिखारी के हाथ सौंप दूँ ? राजा जमाई ढूँढ रहा हूँ। क्या उस ज्योतिषी की बात भूल गई कि इस लड़की का जन्म राजरानी होने के लिये हुआ है। और तभी से मैं इसकी शिक्षा, लालन-पालन सब रानी ही के योग्य कर रहा हूँ। दो नौकरानी लगा दी हैं केवल उसी के काम के लिये।"

तब माँ बोली—"हाँ, सो तो ठीक है, किन्तु लड़की बड़ी हो गई है।"

"बड़ी !" सुनहली ने दर्पण में अपनी आकृति को देखा और देखती ही रह गई। सूर्य प्रकाश-सा यह कैसा रूप है ! ज्वालामुखी सा यह कैसा यौवन है !

कुब्जा दासी पहुँच गई—"रानी बीबी, यह क्या अपने हाथों जूड़ा बाँध रही हो ?"

"तो क्या हुआ ?"

"जो कि एक दिन रानी बनेगी, उन्हें कहीं यह बातें शोभा देती हैं ? मालिक सुनेंगे, तो मेरी नौकरी चली जायगी।"

वस्त्रादि पहन कर सुनहली बोलीं—"कुब्जा मुझे अपनी सी बिन्दी लगादे।" दाँतों तले जीभ दबाकर दासी ने उत्तर दिया—"राम-राम, रानियाँ भी कहीं काँच की बिन्दी लगाया करती हैं ?"

"तो फिर कैसी बिन्दी लगाती हैं ?"

"हीरे, माणिक, कोहेनूर की ।"

"अच्छा ।"—कहती हुई गर्व से फूली वह ड्राइङ्ग रूम में चलदी।

पति से टिकी हुई सोफे पर बैठी हुई थी, उस दिन की वह भिखारिन राजरानी बनी हुई अनुपमा । सुनहली पहुँची । उस रूपवती को देखकर खरे चकित, मुग्ध हुआ । बाल-सङ्गिनी को देखकर अनुपमा हँस पड़ी । किन्तु उस हँसी को देखकर सुनहली जल सी उठी—इस कुरूप भिखारिन ने खुशी की संतोष की इस हँसी को कहाँ से लूट लिया । लगने लगा सोना को जैसे एक हरी खुशी ने उस श्याम वर्णी तरुणी को सुन्दरी, दर्शनीय बना दिया है । मन में कहने लगी वह—"यह अन्याय है, घोरतर अन्याय । उस जैसी दरिद्र, रूपहीना को ऐसी सूरत ऐसी हँसी, कहीं शोभा देती है ? अन्याय है, है अविचार ईश्वर का !"

खरे ने कहा—"अनूप से मैं आपकी तारीफ सुन चुका था । आज आँखों देखने का सौभाग्य मिला ।"

"अच्छा !"

"हाँ, जो कुछ सुना था उससे कहीं दस गुना ज्यादा पाया ।"

"क्या सुना था आपने ?"—सोना ने पूछा, एक आग्रहपूर्ण उत्सुकता से ।

"यही आपके रूप की प्रशंसा ।"

"क्या मैं सुन्दरी हूं ?"

"अपूर्व !"

"शहर की श्रेष्ठ सुन्दरी तो है ही सोना ।" अनुपमा कहने लगी—"आज तुमने बिन्दी क्यों नहीं लगाई सोना ? बिन्दी से और भी सुन्दर लगती है । ठहरो, मैं डिबिया लाती हूँ ।"

अनुपमा गई और डिबिया उठा लाई । जब वह सुनहली के ललाट पर लगाने लगी तब सोना ने एक बार अनुपमा के ललाट पर की बड़ी सी सिन्दूर की बिन्दी को देखा । उस बिन्दी ने उसके मन में दाह उत्पन्न कर दिया । तब वह उदास स्वर से बोली—"नहीं—

नहीं, मैं ऐसी बिन्दी नहीं लगाती। मेरे योग्य यह बिन्दी नहीं है।"

"तो कैसी बिन्दी लगाती हो?" अनुपमा विस्मित हो रही थी।

"हीरे, कोहेनूर की।"

अनुपमा खिलखिला पड़ी। रक्त-नेत्रों से उसे देखकर सोना अन्तःपुर की ओर चल दी।

(२)

रात का सपना कभी दिवा-प्रकाश में सत्य हो जाता है। रात की कल्पना कभी वायुकम्प में रमकर जीवन पा जाती है। शायद वही हुआ। उस दिन सुनहली के जीवन में उसके दीर्घ दिनों का सपना, कल्पना, प्रतीक्षा सफल थी, उसके जीवन की एक फाग भरी बेला में। रानी थी वह—राजरानी। रूप कथा की रूपक रानी नहीं, कल्पना की गुलबकावली रानी नहीं, थी वह राजपुर के राजा कल्याणसिंह की दुलारी रानी।

संगमर्मर का बना फ़र्श, महान् चाँदी का पलँग मख़मल की गद्दियाँ, रेशमी तकिए, स्वर्ण सुराही में गुलाब जल, चन्दन की चौकी पर सोने का पानदान। सलमा-सितारे की सलवार पहने चार दासियाँ उसे पंखा झला करतीं। और वृद्ध राजा कल्याण चाँदी की कुरसी पर बैठा उसका मुँह निहारा करता। राजकार्य मंत्री संभालता। प्रधान रानी कमलकुमारी के नेत्र सूखकर भी न खुल पाते। सुनहली की आज्ञा पत्थर पर लकीर सी अमिट होकर राज्य में अंकित होती, उस आज्ञा की अवहेलना न कर सकती प्रजा, न राजा। राजरानी कन्या के लिये विजय गर्व से उसके माता-पिता फूले न समाते, और रानी के दर्शन के लिये पिता धरना देकर बाहर बैठ जाते।

तीन दिन तीन रातें निकल जातीं तब कहीं सुनहली उस दर्शनाभिलाषी के लिए मुँह से एक शब्द निकालती—"कौन है क्या चाहता है कुब्जा?"

उसके पितालय से आई हुई कुब्जा राजमहल में प्रधानदासी थी। बोली—"आपके पिताजी आये हुये हैं।"

"मेरे पिता! राजरानी के पिता! भिखारी पिता!" गुनगुना कर वह कहती।

"उनके प्रति क्या आशा है देवी?"

"वह क्या चाहते हैं?"

कुब्जा चुप रहती।

"धन दौलत?"

"नहीं महारानी!"

"तो?"

"आपका दर्शन!"

अँगड़ाई लेती हुई रानी ने कहा—"मुलाकात का यह कौन सा समय है।"

"तीन दिन हो गये देवी उन्हें बैठे हुए।"

"कल सवेरे मुलाकात हो सकेगी।"

सन्ध्या के मन्द प्रकाश में रानी ने पुकारा—"कुब्जा, हाय कुब्जा, मेरी हीरे की बिन्दी, एक करोड़ की बिन्दी भी खो गई, चोरी हो गई। देखो मेरा लालट सूना है।"

कुब्जा ने अपनी चुनरी के छोर में बँधी हुई उस हीरे की बिन्दी को मुट्ठी में दबाकर कहा—"क्या ग़ज़ब हो गया। इस बिन्दी को लेकर हज़ारों बिन्दियाँ खो चुकीं। उस दिन मन्त्री कह रहे थे—सोना रानी की बिन्दियाँ खरीदते-खरीदते एक दिन राज्य बिक जावेगा और राजा बन जावेंगे भिखारी।"

रानी गरज उठी—"मंत्री का इतना साहस! बुलाओ राजा को।"

राजा कल्याण सिंह अपने सफेद बालों में कलफ़ लगाकर तब पहुँच गये सुनहली के निकट। रानी मुँह फेर कर बैठी हुई थी।

राजा व्याकुल हुआ, निकट बैठकर परम आदर से पूछा—"क्या तबियत ख़राब है देवी?"

किन्तु, उत्तर कुछ न मिला।

"किसी ने कुछ कहा है?"

"मुझे मेरे घर भेज दो।"

राजा के मस्तक में चक्कर आने लगे—"इस रूपपरी का रूठना कैसा? इसके चले जाने के बाद वह जीवित रह भी सकेंगे कैसे?" विनय से कल्याण ने पूछा—"आखिर बात क्या है?"

"इतना अपमान एक बिन्दी के लिए! सो भी सुहाग की बिन्दी। महाराज आप ही के कल्याण के लिये तो बिन्दी लगाती हूँ न, जिससे कि मेरा सुहाग चिरायु रहे। वरना मुझे ज़रूरत ही क्या?"

राजा गद्गद् हो उठे, कहा—"ज़रूर-ज़रूर, तुमसी सती, तुमसी पतिभक्ता दुनियाँ में है भी कौन! साफ कहो, किसने अपमान किया?"

"आप ही के कर्मचारी ने, प्रधान मंत्री ने।"

"मंत्री ने! उसका इतना साहस?"

"कल जो बिन्दी आई थी वह भी गुम गई, इसमें मेरा अपराध क्या?"

"गई तो जाने दो दूसरी और आ जावेगी।"

"एक करोड़ की बिन्दी—मेरी बिन्दी गुम गई, खो गई, किसी ने चुरा ली।"

"गई तो जाने दो। यह राज्य तुम्हारा है, कमी किस बात की है। इस बार दो करोड़ की बिन्दी आ जावेगी। और मन्त्री,—वह अब इस राज्य में नहीं रह सकता है।"

सुनहली ने आँखों में आँसू और अधर में मोहिनी हंसी लेकर राजा के गले में बांहें डाल दीं।

राजा कल्याणसिंह उस हँसी को देखकर अतीत और भविष्य को भूल गया; सुध रही केवल वर्तमान की, अपनी सुर्य छटा सी रानी सुनहली की।

(३)

रिमझिम-रिमझम मेंह बरस रहे थे, कागों की टोली वृक्षों पर बैठी उस वर्षा में स्नान कर रही थी, आम पर बैठी चील भोग्य वस्तु के सन्धान में थी। गौरइयाँ पर फैलाकर स्नान कर रही थीं। तब पहुँचा

कल्याणसिंह सुनहली के महल में।

अलसाई हुई आँखों से रानी ने राजा को देखा। वीणा अलग रख दी। दासियों ने नृत्य करना बन्द कर दिया। मुग्ध-विस्मय से कहा कल्याण ने—"देवी! वास्तव में तुम देवी हो, कण्ठ तुम्हारा कोकिला को भी लज्जित कर देता है। सुनाओ उस कण्ठ से राग पुनः मुझे।"

अभिमान से सोना ने कहा—"कहाँ है मेरी सुहाग की बिन्दी?"

हंस पड़ा कल्याण, फिर एक सुन्दर मखमली केस निकाल कर रख दिया सुनहली के हाथ पर—"देखो यह बिन्दी है पसन्द?"

रानी ने केस खोला, आँखें उसकी चुंधिया सी गईं—बिन्दी की दीप्ति से।

"इस बिन्दी का दाम क्या है महाराज?"

"राज्य का एक अंश।"

"राज्य का एक अंश—मेरी बिन्दी का मोल?" खुशी से दीपक सी जल उठी राजरानी सुनहली। उसकी बिन्दी का मूल्य न लाख, न दो लाख। करोड़ भी नहीं, राजरानी सुनहली के सुहाग की बिन्दी का मूल्य है राज्य का एक अंश। गर्व उल्लास से जी उसका भर उठा।

"कहाँ गई वह गर्विता भिखारिन—जो कि एक दिन दो पैसे कीमत की सिन्दूर की बिन्दी उसे लगाने को आई थी?"

"कहो महारानी, यह बिन्दी तुम्हें पसन्द है?" पूछा कल्याण ने।

"सुन्दर है यह बिन्दी, मेरे सुहाग की बिन्दी। है न मनोहर यह बिन्दी, कुब्जा?"

लोलुप दृष्टि से कुब्जा ने बिन्दी को देखा, कहा—"महाराज ने स्वयं इसे खरीदा है। इसकी तुलना संसार में नहीं हो सकती।"

अहंकार, सन्तोष से राजा का बूढ़ा मन युवक-सा हो उठा।

"महाराज तुम मलीन क्यों हो?" पूछा सोना ने।

"मैं? ज्वर रहता है।"

"कब से?"

"कुछ दिनों से।"

"और आप घूमते फिरते हैं ?"

"किन्तु इस बिन्दी को तो खरीदना था।"

"क्यों, मन्त्री नहीं खरीद सकता था ?"

कल्याण खिन्न सा हँसा—"उसे तो बहुत दिन हुये निकाल दिया है।"

"क्यों ?"—एक अनजान की भांति पूछा सोना ने।

"रानी सुनहली का अपमान करने वाला इस राज्य में नहीं रह सकता।"

प्रसन्नता से रानी मुसकरा पड़ी। विश्वविजयिनी की भांति उसने एक बार अपनी दासियों के प्रति देखा, कहा—"महाराज, पलंग पर लेट जाओ। मैं स्वयं आपका सिर दाबूँगी।"

कल्याण के मानो स्वर्ग हाथ लग गया। आँखें बन्द कर पलंग पर पड़ रहा, रानी सिर दबाने लगी। कुब्जा ने वह बिन्दी रानी के माथे पर लगा दी।

"कितनी सुन्दर, कितनी अच्छी हो तुम देवी।" देखते देखते कल्याण ने कहा। सुनहली मुसकराई, पूछा—"अब राज्य कार्य कौन देखता है ?"

"महारानी कमलकुमारी।"

सुनहली के मुँह पर ज्वलन्त ईर्ष्या व्याप गयी—"क्यों ? और मन्त्री को क्यों नहीं रखा।"

"चेष्टा बहुत की, कोई भी नहीं आता।"

"क्यों ?"

"उस पुराने मन्त्री को निकाल देने से प्रजा असंतुष्ट है।"

सुनहली चुप हो रही।

"वह काम संभाल लेती है।"—देर के बाद पूछा सोना ने।

"बहुत ही अच्छी तरह से।"

सोना ने मुँह फेर लिया।

(४)

फाल्गुन के अन्तिम दिनों में पड़ गया राजा कल्याण शय्या पर—नेत्रों को मुद्रित कर। मृत्यु की नील आभा व्याप चुकी थी उसकी आकृति पर। प्रधान महिषी कमलकुमारी मुरझाई कमल सी बैठी रहती पति के सिरहाने, राजवैद्य नब्ज पकड़े बैठा रहता।

पहुंच गई कुब्जा तीव्र गति से, वैसे ही कहा—"महाराजा" राजा ने आँखें खोलीं; रुक रुक कर कहा—"रानी सोना अच्छी है न ?"

"अच्छी कहाँ। उनके सुहाग की बिन्दी खो गई है।"

"कब ?"

"अभी—दस मिनट पहले।"

"महारानी कमलकुमारी।"—राजा ने पुकारा।

"आज्ञा महाराज।"

"उनके सुहाग की बिन्दी खोगई है सुन रही हो न ?"

कमल काँप उठी—अभी चार ही दिन हुये राज्य को बन्धक रख-कर बिन्दी खरीदी गई थी। और इसबार राज्य को बेचना ही पड़ेगा। फिर उसके बाद ? भिक्षा की झोलियाँ रहेंगी राजरानियों के हाथों में, राजकुमार इन्द्रभानु बनेगा पथ का भिखारी।"

"चुप—चुप। यह सब कुछ नहीं सुनना चाहता। उनके सुहाग की बिन्दी अभी आनी चाहिए।"

कमल ने कुछ सोचा, फिर दृढ़ स्वर से कुब्जा से कहा—"जाओ दासी, कह देना—मैं स्वयं उसके सुहाग की बिन्दी लेकर आ रही हूँ।"

कमलकुमारी को देखकर सुनहली सम्भ्रम उठकर खड़ी हो गई। दासियाँ प्रणाम करती हुई हट गईं।

संयत स्वर से कमल ने कहा—"लो तुम्हारे सुहाग की बिन्दी।"

भवें चढ़ाकर सुनहली ने उस लाल लकड़ी की डिबिया में सिन्दूर को देखा, बोली—"यह तो सिन्दूर है।"

"हाँ सुहागिनी के सुहाग की बिन्दी।"

"यह चार पैसे की चीज़। भिखारिन जिसे व्यवहार किया करती

है, उसे राजरानी नहीं उपयोग कर सकती।"

"चार पैसे की चीज़! किन्तु विश्व में यही एक वस्तु है—जिसका मूल्य आँका नहीं जा सकता। सुहाग भी कहीं पैसों के बल खरीदा गया है बहिन!"

"अमूल्य! चार पैसे की चीज—"

"किन्तु अमूल्य वस्तु जब जन-साधारण की हुआ करती है, तब वह अनायास लब्ध भी हो जाती है, यही है न उसका महत्व, उसकी देन। आदिम सत्य कहीं पैसों के बल खरीदा गया है!"

"महारानी—"

"राज्य-मद में भूली—जिसे तुम करोड़ों में खरीदा करती हो, वह है केवल अहंकार और सुहाग की बिन्दी का अपमान करना।"

"अपमान करना!"—कह सकी सोना इतना ही।

"अन्धी मत बनो। आज तुम्हारे अहंकार को पूरा करता करता राजा भिखारी बन चुका है। केवल यही नहीं, वह मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ है। आँख खोलकर देखो—आज रानियों को तुम विधवा बनाने जा रही हो। राजकुमार के हाथ पर तुमने भिक्षा-पात्र रख दिया है।"

"दीदी—दीदी, महारानी कमलकुमारी!"

"हाँ! नारी-मात्र के प्रधान आभरण इस सिन्दूर का अपमान कर तुमने आज राजा को, अपने पति को, मौत के मुँह में ढकेल दिया है।"

दोनों हाथों से मुँह ढाँककर सुनहली रो उठी। कमल ने सिन्दूर की डिबिया उसके हाथ पर रख दी। महल से रोदन-ध्वनि उठी।

× × ×

शहर के किनारे एक टूटा-फूटा मिट्टी का घर। उसी घर के अँगना पर बैठा वृद्ध महेश उस भग्न गृह की अमर कथा सुना रहा था नव आगन्तुक बिहारी को।

कहने लगा महेश—"बस उसी दिन से रानी सुनहली को महल में किसी ने नहीं देखा। एक दिन महाराज इन्द्रभानु इसी कुटीर पर

पहुँच गये थे, बोले—'माँ महल में चलो।'

उत्तर में उसने कहा था—'नहीं। ऐसा अनुरोध मत करो बेटा, जिस सुहाग की बिन्दी का मैंने अपमान किया था, अब उसका सम्मान करने दो।'

प्रति रविवार पूर्णिमा रात्रि में यहाँ भीड़ लगी रहती है। वह डिबिया भर भर कर सुहागिनियों को सिन्दूर बाँटती है। महेश चुप हो गया।

"और रात की वह अद्भुत आवाज़?"—पूछा बिहारी ने।

"वह आवाज़? रात के एकान्त में वह सुहागिनों को सुहाग की बिन्दी बाँटा करती है। तभी से इस सिन्दूर की प्रथा चली है।"

एक अविश्वास से बिहारी मुँह फेर कर हंसा और अपनी चिन्तन-धारा में मग्न महेश गुनगुना कर भजन गाने लगा।

रिक्ता

कोलाहल के साथ आँधी बह रही थी। आकाश के हृदय में असमय की रात्रि घनी हो रही थी। समुद्र के किनारे का वह छोटा सा बँगला उस आँधी से काँप-सा, सिकुड़-सा रहा था।

सफेद चादर पर पड़ी थी मुट्ठीभर चाँदनी-सी कमला, न जाने कौन से आँसू के तलदेश में डूबकर उसकी श्वासा हिम-शीतल हो रही थी। कौन जनता था—एक छोटी सी भूल,—ना समझी,—के भीतर उसके आँसू आजीवन भटकते फिरेंगे। कौन जाने वह भूल उसकी थी या पतिकी, अथवा घरवालों की। और यह भी कौन कह सकता है कि, वह भूल इच्छाकृत थी अथवा अनिच्छाकृत।

कुछ दूर आराम-कुर्सी पर पड़ा विनोद दैनिक पत्र पढ़ रहा था। घड़ी में छः की घन्टी बजी। विनोद दैनिक हटाकर उठ पड़ा। छोटे ग्लास में दवा और बेदाने के दाने लेकर कमला के सामने खड़ा हो गया, पूछा—"जाग रही हो? मुझे बुला क्यों न लिया?"

वह हँसी और चुप रह गयी। बुलाती? किन्तु बुलाती किसे? कल-पूर्जे से बने, कर्तव्यनिष्ठ पति को? नहीं-नहीं; वह उस पति को नहीं पुकारेगी।

"इस तरह मुझे और अपने को दुख क्यों दे रही हो ?"

"मैं तो किसी को दुख देना नहीं चाहती।" कमला बहुत धीरे बोली।

"उदास रहोगी, तो बीमारी बढ़ जायगी कमला।"

कमला चुप रही। कदाचित् वाद-विवाद करने में उसकी आत्मा संकुचित होती हो।

पत्नी के निकट बैठकर परम आदर से उसके रूखे बालों को सुर-झाते हुए विनोद ने कहा—"पी-लो।" पति के स्पर्श से कमला सिहरी। दवा पीकर बोली—"मुझे नींद आ रही है।"

पत्नी के उस बहाने से विनोद का पुरुष हृदय रुष्ट—क्षुब्ध—हो उठा। वह भली-भाँति जानता था कि, नींद का बहाना उसे दूर हटाने के लिये है। वास्तविक जो कुछ है, वह है मात्र घृणा। पत्नी उसे घृणा करती है। कभी ऐसा भी किसी ने सुना होगा कि, पत्नी पति के स्पर्श से घृणा अनुभव करे ! किन्तु उसके लिये किसी-एक अन्यायी विधाता ने असम्भव को सम्भव कर दिया है !

परन्तु सदा से ऐसा नहीं था। एक दिन वह था—जब कि, कमला उसके कचहरी लौटने की प्रतीक्षा में पलें गिना करती। बृहत्-संसार में वह पति-पत्नी रहा करते एक दूसरे में ओतप्रोत। किसी तीसरे की जगह उन हृदयों में थी ही नहीं। उज्ज्वल निशा में पति-पत्नी कुंज-लताओं में छिपते फिरते, निरर्थक अभिमान से कभी एक दूसरे से रूठ बैठते, कभी रंग भरी पिचकारी जैसे खिलखिला पड़ते और उस कौतुक—रंग—को देख कर लज्जा से चाँदनी गहन-वन में छिप जाती। वह दिन था केवल आनन्द और खुशी का।

न जाने शाप अथवा आशीर्वाद की तरह उस रूई से शुभ्र—कोमल—शिशु का जन्म हुआ था। बस, तभी से उसके उत्सव का मधुवन निर्जन हो गया। उस बच्चे की सेवा को नर्स आयी। दो महीने के शिशु-जीवन के लिये कितने ही उपाय किये गये। माँ की तरह प्यार-दुलार से नर्स बच्चे को गोद में लिये बैठी रहती। वह भी

एक दिन था—जिस दिन की घड़ियाँ कटना कठिन हो रहा था। नर्स की आँखें झप गयी थीं और विनोद के कन्धे पर उसका सिर लटक पड़ा था। गहरी रात में कमला नींद से जाग कर कमरे में आकर खड़ी हो गयी थी—आँधी की तरह। एक दृष्टि डाल कर दूसरे पल वह वैसी ही लौट गयी थी। विनोद को कुछ सोचने-समझने का अवसर मिला ही कहाँ था? उसी रात में बच्चे की आयु शेष हो गयी थी।

और उसके भी बाद? दवा की शीशियों से आलमारी भरने लगी। नित्य नये डाक्टर आते रहते। किन्तु फिर भी कमला की नसों में रक्त की कमी रह ही गयी। अन्त में डाक्टरों ने तपेदिक का सन्देह प्रकट किया।

माता सिहर कर बोली—"छूत की बीमारी है, हर बातों से बचे रहना विनोद। अपना पलँग दुलहिन के कमरे से निकाल लो।"

खिन्न हँसी से जब विनोद द्वार पर आया, तो उसे जान पड़ा कि, कमला द्वार के बाहर से हट रही है। कुछ कहने के लिये विनोद रुका, किन्तु तब तक वह चली गयी थी।

कुछ दिन हुए कमला को लेकर वह समुद्र-किनारे आया है। जाने कितने दिन हो गये पत्नी ने उसे स्पर्श नहीं किया।

रात में एकान्त-शय्या पर शिशु के मृत्यु-मन्दिर की प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना सजीव हो उठती। क्लान्त नर्स की पल भर की सुषुप्ति विनोद को काँटे-सी बेधती, तब वह सब कुछ पत्नी को समझाना चाहता, किन्तु फिर भी निर्वाक् रह जाता। विरक्तिपूर्ण अपमान से उसका हृदय रूठ बैठता। उस मूक नारी से उसका मन ऊब जाता। प्रेम को वह दुतकार देता। मन में दस बार कहता क्या इसे भी प्रेम कहते हैं? जो जरा सी भूल, कदाचित् सहानुभूति, दया करुणा को देख कर रूठ जाय? क्या इसी प्रेम का ऐसा महत्त्व है, जो बिना विचारे अपने प्रीतम पर अविश्वास करे? नहीं—नहीं, यह तो अत्याचार है। विनोद कह उठता, फिर चुपचाप अपना कर्तव्य निभाता।

[२]

वर्षा के चुम्बन से पृथ्वी हरी हो गयी थी। उस चुम्बन की मोहिनी ने कमला के सूखे हृदय पर कुछ सजीवता ला दी। सामने के खुले बरामदे में, आराम-कुर्सी पर पड़ी वह गुनगुनाने लगी। किसी दिन वह सु-गायिका थी। उसके गान पर कितने ही मुग्ध रहते। पति उस गान को मुग्ध-विस्मय से सुनता और वह हँस-हँस कर उसे चिढ़ाती। आज यद्यपि मौत उसे दोनों बाँहों में समेट रही थी, किन्तु फिर भी मन की बातों का, उन स्मृतियों का, अन्त कहाँ था?

भूले से एक गीत को वह मधुमक्खी जैसी गुनगुना कर गाने लगी। उस गीत के रन्ध्रों में न जाने कौनसी स्मृति लिपटी थी, जिसने उसके नेत्र सजल कर दिये।

विनोद के साथ की एक अपरिचिता नारी पर दृष्टि पड़ते ही कमला सँभल कर बैठी।

"कमल, यह विजय की बहन सुरंजिता देवी हैं, और यह हैं विजय।"—विनोद ने कहा।

पति से डाक्टर विजय और सुरंजिता की बातें वह बहुत सुन चुकी थी।

"बैठो बहन।" कमला ने कहा।

"और मैं!" विजय हँस रहा था।

"बैठिये न आप।" लजा गयी कमला।

"आप ज्यादा कमजोर हो रही हैं। चेञ्ज से कुछ फायदा हुआ?" विजय ने पूछा।

"कुछ नहीं। यहाँ इनकी कमजोरी बढ़ गयी है।" विनोद ने कहा।

"बिलकुल अच्छी हूँ।" कमला ने कहा।

सुरंजिता मुसकरायी—"तो भाई तर्क का क्या प्रयोजन? प्रमाण कल मिल जायगा। कल 'पिकनिक' है और मैं आपके लिये ही आयी हूँ।" बोली सुरंजिता।

"जरूर चलूँगी।" कमला ने कहा।

उस अतिरिक्त उत्साह को देख कर बिनोद भीत हुआ—

"कहाँ तक चलना है? यह कैसे जायगी?"

"अरे भाई, मैं डाक्टर विजय जो स्वयं साथ रहूँगा। फिर डरना कैसा? है न भाभी?"

कमला हँसने लगी। मित्रद्वय बाहर चल दिये। सुरंजिता कमला के निकटतर बैठी—"कब से बीमार हो?" "आठ-दस माह से। पहले मुँह से खून नहीं आता था। अब तो वह आने लगा। कल कब चलना है?"

"सबेरे आठ बजे। बहुत से मित्र साथ रहेंगे। आनन्द से दिन कट जायगा। आपको मोटर पर ले चलूँगी।"

और बहन के अपनेपन में यह आपका शब्द कैसा सुरंजिता?" "दीदी।" सुरंजिता उसके गले से लिपट गयी—"तुम तो मेरी दीदी हो।" कमला व्यस्त हुई—"हटो बहन श्वास मेरी, रुक रही है।"

लज्जा से सुरंजिता का मुँह लाल हो उठा—"तुम्हें लग गया दीदी? तुम ऐसी कमजोर हो, उस पर मेरा मन भर का बोझ।"

"लगना कैसा री पगली?"

"तो फिर चिल्लायी क्यों?"

कमला ने जरा द्विधा किया, फिर शान्त स्वर से बोली—"भूलती क्यों हो? यह छूत की बीमारी है। दुनियाँ से मुझे अलग रहना है। नहीं-नहीं, बरन दुनियाँ ने ही आज मुझे अलग कर दिया है। इस सत्य को भूलने से कैसे चलेगा बहन जी?"

इन शब्दों में कैसे आँसू, कैसी असहायता, कैसा सूनापन भरा हुआ था, इस बात को विचारने जाकर सुरंजिता दुख—व्यथा—से स्तब्ध हो रही—रो पड़ी। सुरंजिता को लगा कि, इस रुग्णा, विश्वत्यक्ता नारी को अपने सुगठित यौवन की आड़ में छिपा लूँ, जिसमें दबकर उसके रोगबीजाणु निश्चिह्न हो जावें।

"दीदी।"

उसकी उत्थित बाहोंको हटाकर कमला सहजस्वर में बोली—"तू मुझे घड़ीभर भी चैन से बैठने न देगी?"

"वाह री दीदी, मैं आज आई और तुम रूठकर चलीं?" कमला खिलखिला पड़ी—"तू बड़ी दुष्ट है। किन्तु मैं? फिर करूँ भी क्या? शंका जो लगी रहती है।"

"किस बात की?"

"मेरा रोग किसी दूसरे को न लग जावे।"

"क्यों यह सब सोचती हो? तुम अच्छी हो जाओगी।" कमला म्लान हँसी—"यह बीमारी कहीं अच्छी हुई है?"

"मरने की बात तो मैं सोच भी नहीं सकती। तुम ऐसा कैसे सोचती हो दीदी?"

सरल और छोटा प्रश्न था। किन्तु फिर भी हँसने जाकर भी कमला अस्वाभाविक गम्भीर हो गयी है। बोली—देर के बाद—"एक मौत ही तो अब मेरी जगह है जिला।" सहानुभूति और व्यथा से सुरंजिता की देह, मन आच्छन्न-सा हो रहा। कैसी रिक्तता, कैसे कठोर आघात से एक उसी की भाँति सुन्दरी युवती के मुँह से ऐसे शब्द निकल सकते हैं, इस बात की वास्तविकता को समझ कर उसका अन्तर व्याकुल रोदन से निशोषित होने लगा। सुरंजिता जैसी सहसा उठी और वैसी ही निकल कर भागी भी, जिसे देख कर कमला के नेत्र स्तब्ध रह गये। तो आज सारी दुनियाँ ही मुझसे भीत है?—विचार उठा उस रोग खिन्न मन में और उठता ही चला गया—और जीवन की अन्तिम बेला में, एक विलासिनी नारी के सामने, अपने अन्तर की हीनता प्रकाशित करने की ऐसी कौन सी आवश्यकता पड़ गयी थी?

[२]

पुराने बरगद की छाया में आराम-कुर्सी पर पड़ी कमला असहाय नेत्रों से उन नर-नारियों की कौतुक-लीला देख रही थी। सुरंजिता रसोई की देख-भाल में व्यस्त थी। कई स्टोव और ईंट के चूल्हे जल रहे थे। कोई स्त्री-पुरुष वृक्ष की छाया में दरी पर ताश-पाशे खेलने में लीन थे।

कोई युवती हारमोनियम की रीड दबाती और सितार बजाने में व्यस्त थी कोई। विनोद ने पूछा—"सुरंजिता देवी, मैं भी कुछ होता हूँ ?" वचन शेष कर विनोद ने खिचड़ी की हाँड़ी चढ़ा दी। "इसमें अब शक्कर छोड़ूँ न ?"—पूछा विनोद ने। सुरंजिता और प्रभा खिलखिला पड़ीं—"शक्कर कहीं खिचड़ी में पड़ी है ? आप कहिये।"

पार्टी हँस पड़ी। दोनों स्त्रियाँ उसके हाथ से हाँड़ी छीनने लगीं और विनोद चिल्ला चिल्ला कर कहने लगा—"इन्हें अबला सरला कौन कहता है ? ये तो सबला और योद्धा हैं।"

सब लोग एकत्रित हो गये। हँसी की झड़ी भी लग गयी। "देखा बहन तुम्हारे उनको ?"—किसी ने कमला से कहा। और कमला ? किन्तु वह हँस भी तो नहीं सकती थी ? इस कर्म-व्यस्तता में, इस हँसी-आमोद में एक वही तो रही—नवजात शिशु-सी और हाथ पैर रहते हुए भी।

कमला के मन में न जाने कैसी-कैसी स्मृतियाँ उभरने लगीं और उसकी आत्मा उसी के अन्तर में सिर पीट-पीट कर रोने लगी। सब कुछ होते हुए भी वह आज सम्पूर्ण रूप से लुटी हुई, रिक्ता थी। उसकी शिरा-उपशिराओं की झंकार को वह कैसे सहती, जो कि सदा अपनी सत्ता जताने के लिये धूम मचाये रहती हैं ? यदि अपनी अनिच्छा से वह सब कुछ खो बैठी थी, तो इच्छाशक्ति का विनाश क्यों न हुआ ? वह किस अन्यायी विधाता से यह पूछे ?

कुछ कहने को मुँह खोल कर सुरंजिता नीरव हो रही। पल भर में वह उद्दाम चपलता की समाधि-सी हो गयी। प्रश्नपूर्ण दृष्टि से एक दूसरे का मुंह निहारने लगे। सुरंजिता ने जल्दी से कहा—"श्रम से दीदी का जी अच्छा नहीं है। उन्हें थोड़ा चुपचाप रहने दें। भोजन तैयार है।"

भोजन के बाद वह मण्डली संगीत-चर्चा में लगी। कमला जरा हट कर बैठी—तकिए के सहारे। करुणा गाने लगी। सब प्रशंसा करने लगे। व्यथित नेत्रों से विनोद ने पत्नी की ओर देखा। उसे लगा—यदि

उनके सब कुछ देने पर भी कमला पाँच मिनट के लिये स्वस्थ हो जाती, तो इन मूर्खों को समझा देती कि, संगीत किसे कहते हैं।

"दीदी, अच्छा लगा?" सुरंजिता ने कमला से पूछा।

"सुन्दर ही।" स्मित-हास्य से उत्तर दिया कमला ने।

"आपकी दीदी एक सु-गायिका है सुरंजिता देवी।" बोला विनोद।

"सच दीदी? छोटा-सा कुछ गा सकोगी?"

विनोद पत्नी के निकट जाकर बैठा—बहुत निकट, पूछा—"बहुत धीरे से गा सकती हो कमल?"

कमला का जी भर आया, आँसू छिपाने के लिये मुँह फेर लिया, धीरे बोली—"नहीं! आवाज़ मर चुकी है।"

सहसा कमला सिहर उठी—यह वह कर क्या रही है? कब से विनोद उसके निकट बैठा है और वह अपनी चिन्ता में व्यस्त है, पति का शुभ-अशुभ तक बिसर गयी है? "और इस बीच में यदि मेरी बीमारी उन्हें भी लग गयी हो?" भय—आतंक से कमला विवर्ण हो गयी। अधीर स्वर से बोली—"जाओ, जाओ, तुम यहाँ से हट जाओ।" उस व्यग्र दृष्टि के सामने उस अपमान को सह सकना विनोद के लिये कठिन ही नहीं, किन्तु एक प्रकार से असम्भव सा हो गया; किन्तु फिर भी वह शान्तभाव से उठ खड़ा हुआ। चहुँओर कौतुकपूर्ण दृष्टि की भीड़ लग गयी। और कमला? वह क्लान्त, श्रान्त वहीं लेट रही।

[४]

शीत के आरम्भ में कमला थोड़ी बहुत चलने-फिरने लगी थी। उसके मुँह में हँसी की हलकी-सी छाया पड़ने लगी थी। परन्तु जिस दिन विनोद ज्वर से काँपता घर लौटा, उस दिन केवल वह विवर्ण मुख से दूर खड़ी उसे देखती ही रह गयी। डाक्टर वैद्यों से घर भर उठा। दूर खड़ी कमला सब व्यवस्था करती। उस बन्द कमरे में जाते भय से उसका हृदय काँपता। यदि उस बद्ध वायु में उसका श्वास गर

जावे और पति को हानि पहुँचे ?

पलंग पर पड़ा विनोद छटपटा रहा था। द्वार पकड़े आतुर दृष्टि से कमला उसे देख रही थी। उसके सामने स्वच्छ, शीतल नदी बह रही थी; किन्तु छूने का अधिकार उसे नहीं था। थी केवल नित्य की भाँति तृष्णातुर, लालायित-दृष्टि और मृत्यु की व्याकुल प्रतीक्षा। कमला विचार रही थी—यह उसके किस पाप का दण्ड और कौन से अपराध की शान्ति है ? किन्तु कभी खेल में भी तो उसने पति-प्रेम का निरादर करना न चाहा था।

प्रसन्नता की फुलझरी सुरंजिता उसके निकट आकर खड़ी हो गयी। पूछा—"यहाँ क्यों खड़ी हो और उन्हें क्या हो गया है ? बुखार और सिर में पीड़ा ? तो तुम सिर दाब दो न दीदी।"

"बड़ी बहन, मुझ में ताकत नहीं है।"

विनोद ने पुकारा—"सुरंजिता देवी, जरा मेरा सिर दाब दो।" सुरंजिता विनोद के सिरहाने बैठी और सिर दाबने लगी। "तुम मेरी सुध लेती रहना सुरंजिता देवी, वरना मैं मर जाऊँगा, यहाँ कोई देखने वाला नहीं है।"

विरक्त-विराग से सुरंजिता का जी कमला के प्रति रूठ बैठा—क्या यह पति का सिर भी नहीं दाब सकती थी ? कैसी हृदयहीना है यह नारी ! और यह अभागा विनोद ! अपने यौवन को, आमोद-प्रमोद तक को, जिसने पत्नी की परिचर्या में न्योछावर कर दिया। बेचारा विनोद।—सहानुभूति, करुणा से उसका जी उस अस्वस्थ युवक के प्रति भर उठा।

और कमला ! वह वैसी ही खड़ी रह गयी। न वह वहाँ से हट ही सकती थी, न रह ही सकती थी। कमला चली गयी। अन्त में मृत्यु की शान्त गोद में जगह उसे थोड़ी-सी मिल ही गयी।

विनोद वहीं रह गया। माता को भी बुला लिया।

"पुरोहित जी से विवाह का दिन भी नियत कर लिया है विनोद। अब तो चार ही छः दिन रह गये हैं। तुम तो कुछ भी तैयारी

नहीं करते बेटा।" विनोद भोजन पर बैठा था। पंखा झलती हुई माँ बोली।

"मैं क्या करूँ? तुम्हारी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ बस। सुरंजिता को तुम बहू बनाना चाहती थी, मुझे आपत्ति नहीं। रुपये तुम्हारे पास हैं। मैं क्या करूँ मा?"

"अच्छा-अच्छा, जेवर मैं ही बना लूँगी। सुरंजिता जैसी सुन्दर बहू के लिये जेवर की भी आवश्यकता नहीं है। और कल भोजन के लिये विजय तुम्हें बुला गया है।"

"अच्छा" कह कर वह उठ गया।

अपने गृह में पियानों के सामने सुरंजिता खड़ी थी और उसके सामने अड़ कर खड़ा था विनोद—"भागो मत सुरंजिता, पहले मेरी बातों का जवाब दो।" सुरंजिता के जिज्ञासु नेत्रों के प्रति देख कर वह कहने लगा—"पूछता हूं—नारी पुरुष को क्या केवल घृणा करना ही जानती है?"

"समझी नहीं।"—विस्मय से सुरंजिता ने पूछा।

"उसकी तरह तुम भी मुझे घृणा करती हो?"

"उसकी यानी दीदी की बात कह रहे हो? किन्तु वे तो तुम्हें घृणा नहीं करती थीं।"

"वह मेरी पत्नी थी। मुझ से अधिक तुम उसे नहीं पहचानती। जाने दो उस बात को। और तुम सुरंजिता?"

"मैं?" वह विनोद के पैर के नीचे बैठ गयी—"दीदी की तरह मैंने भी तो इन चरणों में अपने को न्योछावर कर दिया है? फिर घृणा कैसे करूँ?"

"दीदी की तरह? तो वैसी ही घृणा करो।"

सुरंजिता उठ कर खड़ी हो गयी—"यदि उस दूर रहने के प्रयास को तुम घृणा समझे हो, तो तुम सा अभागा कोई नहीं है।"

"तुम नहीं,जानती जिता, वह मुझे घृणा करती थी। उसी दिन से, जिस दिन नींद से भरी नर्स का सिर मेरे कन्धे पर लोट गया था और मैं

उस क्लान्त नारी को वहाँ से हटा न सका था।"

"गहरी भूल। हो सकता है कि, सन्तान के मृत्यु-शय्या पर पड़े रहते कुछ अस्वाभाविक दृश्यों ने उन्हें जरा सा विचलित कर दिया हो।"

"तो वह घृणा नहीं थी?"

"कहाँ घृणा? तुम अन्धेरे में भटकते कहाँ फिर रहे हो?"

"मुझे अँधेरे में मत भटकाओ, साफ कहो, वह क्या था?"

"तपेदिक की रोगिनी सदा शंकित रहती थी कि, कहीं उनका रोग तुम्हें न लग जावे। उन्हें विश्वास था कि, उनकी श्वास से तुम बीमार पड़ जाओगे।"

इसके बाद विनोद ने एक भी प्रश्न नहीं किया। चुपचाप निकल कर चल दिया। विदा का एक छोटा सम्भाषण भी पीछे खड़ी स्त्री से उसने नहीं किया।

और सुरंजिता? कौन जाने उसके मन में क्या था—आँधी के मेघ या प्रसन्नता की माधुरी!

विजय पहुँच गया, कहा—"अभी मैंने विनोद को जाते देखा। पुकारने पर नहीं लौटा। उसे क्या हो गया है?"

"चलो भैया, निमन्त्रित अभी आते ही होंगे।" सुरंजिता ने शान्त स्वर से कहा।

जीवन-ज्वाला

(१)

विश्व का सम्राट-जैसा हिमालय पर्वत, उसके उन्नत शिखर पर सूर्य का स्वर्ण-दीप्त सिंहासन, तुषार का शीतल निकेतन, नागराजों का निभृत कुंज, पक्षिराज का शान्त नीड़, तथा सहस्र गज नीचे स्वच्छ-सलिला जाह्नवी। हिमालय के पादमूल में क्षुद्र कुटीर-श्रेणी। शीत ऋतु के आरम्भ ही से तुषार-पात आरम्भ हो गया था। पथ प्रायः जन मानव शून्य था।

ऐसे ही एक दिन पहुँच गया सुरेश—मित्रों के सहित—उस बरफ-आवृत पथ पर। दीर्घ-रोग-भोग के बाद स्वस्थ्य हुआ था और वायु परिवर्तन के लिए यह यात्रा थी।

निरापद आश्रय में पहुँचने के पूर्व ही अन्धकार ने पृथ्वी को ग्रस लिया और उस भूल-भुलैया की तरह पार्वत्य पथ में वह क्षुद्र मनस्वी मृत्यु मुख में पहुँचते-पहुँचते बच गया।

अनति दूर पर दीप-शिखा को लक्ष्य कर नृपेन ने चीत्कार कर कहा—"हम पथिकों की रक्षा करो, रक्षा करो।" थोड़ी देर के बाद संन्यासिनी स्वयं कुटीर से निकलीं; टिमटिमाते दीप को हाथ में लेकर अनायास वहाँ तक पहुँच गईं।

"बरफ से पथ ढक चुका है; ऐसे समय इस पथ पर आने का दुस्साहस तुमने क्यों किया, पथिक ?"—एक संन्यासिनी ने पूछा ।

"रास्ता भूल गये हम और यहाँ तक पहुँचना पड़ा"—विनय से कहा सुरेश ने ।

"क्या आप नहीं जानते थे, कि यहाँ का पथ शीत के पहले ही बन्द हो जाता है ?"—एक बोली ।

दूसरी ने कहा —"यहाँ खड़े रहकर तर्क-वितर्क करने से इनकी रक्षा न होगी शिवानी, यहाँ से जल्दी चलो; कुटीर में पहुँचकर तर्क-वितर्क कर लेना । देवी को भी इनका आना सूचित करना है; मठ का द्वार कहीं बन्द न हो जाये ।"

तीनों पथिकों को लेकर वे दोनों कुटीर में पहुंची ।

छोटे-बड़े पत्थर, ऊँचे-नीचे वृक्ष, उन्हीं के नीचे चार-छः कुटियाँ । यही था देवी का मठ, संन्यासिनी उल्का थी मठ की स्वामिनी । लोग उसे देवी कहते थे ।

क्षीण दीप के प्रकाश में उस स्थान को देखकर सुरेश ऐसा चौंका कि कुछ देर तक वह बात भी नहीं कर पाया । सुरेश को लगने लगा मानों इस स्थान से वह जन्म-जन्मान्तर से परिचित है । वही तो है न वह वृक्ष, जहाँ पर दुर्योग रात्रि के अवसान में एक तरुणी की शीतल गोद में उसकी चेतना लौट आई थी ? और यही तो है न वह भग्न कुटीर, जिस कुटीर में रोग-शय्यापर पड़ा-पड़ा वह उस वन्य देवी सी अनुपम नारी की सेवा लिया करता था ? और यही तो है न,—वही शिलाखण्ड, जहाँ पर पुनर्जीवित होकर उसने पृथ्वी को रजपूर्ण पाया था ? और वही तो है न, वृक्ष-अश्वत्थ, जहां पर चाँदनी रात देखा करती थी ? और-और वहीं !

और ? नहीं; कुछ नहीं, कुछ नहीं ! किन्तु फिर भी सुरेश को एक अस्पष्ट सपना-सा स्मरण हो आया, कि किसी एक दिन, किस को उसने लौट आने की वार्ता सुनाकर बिदा ली थी; किसी एक को आने लौटने की प्रतीक्षा में बैठाकर चला गया था । और वही है न, मन्दिर,

जहांपर ?.....,नहीं-नहीं; झूठ—बिलकुल झूठी, कोरी कल्पना, दुर्बल चित्त की भावना मात्र !

सुरेश ने सहमकर सुना—संन्यासिनी उसे कुटीर के भीतर पुकार रही है। और मित्रगण विस्मय से उसे हिला रहे हैं।

फल-मूल से तृप्तिपूर्वक भोजन के बाद कम्बल ओढ़कर विलास ने पूछा—"शीतकाल में भी क्या आप लोग यहां रहती हैं ?"

हम संन्यासिनियों के लिए तो शीत-वर्षा एक-से हैं। मठ तो हमारा यही है न।" चलते चलते संन्यासिनी ने उत्तर दिया।

"आप कितनी स्त्रियां यहां रहती हैं ?"

"थोड़ी-सी, यही—दस—बारह।"

"और संन्यासी ?"

"नहीं।"

"चोर-डाकू से आप लोगों को—"

बात काटकर स्मित हास्य से वह बोली—"मनुष्य होकर और उसी मनुष्य से डरना ? नहीं महाशय, वैसी कापुरुषता इस मठ की वायु में नहीं है। आप आराम से सोयें।"

"माफ़ कीजिये; एक बात और—मठ की कोई स्वामिनी हैं ?"

"देवी हैं यहाँ की स्वामिनी, प्रातःकाल उनके दर्शन होंगे।"

परन्तु तीनों कम्बल तो हमें दिये जा रही हो, ठंड में आप लोगों को तकलीफ जो होगी !"

"ये कम्बल अतिथि के लिये हैं; हमारे कम्बल दूसरे हैं।"

सुरेश ने मुँह उठाया, इतनी देर के बाद—"और स्वामी नित्यानन्दजी ? जानती हैं आप उनको ?"

संन्यासिनी-द्वय ने श्रद्धा, सम्मान से उद्देश्य में हाथ जोड़े—"कई वर्ष हुये, प्रभु समाधि ले चुके हैं। देवी पर सब छोड़ गये हैं।"

"और—वह ?" स्वप्नोत्थित की तरह पूछा सुरेश ने। उन दोनों ने विस्मय से उसे निहारा—"किसे पूछ रहे हैं ? क्या आप श्रद्धेय गुरु जी से परिचित थे ?"

सुरेश ने ऐसी चुप्पी साध ली, कि इसके बाद उसने मुँह तक न उठाया।

(२)

आधी रात की गम्भीर चुप्पी और मुरझाई चाँदनी की म्लान छवि! धरती गहरी निद्रा में अचेत पड़ी गहरी साँस ले रही थी। ऐसी एक आधी रात में मानो शेष नाग के सहस्र फन एक ही साथ डोल गये! धरती थर-थर-थर काँपने लगी, मानो करोड़ों भौंरे एक साथ ही भनभनाने लगे—भन न न न! उच्च पत्थरों के घोर पतन-रव से वनस्पति भीत त्रस्त हो रही। वृक्षों पर वृक्ष—गिरने लगे। क्षुद्र मठ के अधिवासी गण भय ग्रस्त कुटीर से बाहर निकल आये। कुटियों का कम्पन अविराम हो रहा था।

मुरझाई चाँदनी, पर्वत, वृक्षों के गिरते पत्तों की आवाज़, झाड़ी-झुरमुटों की मरमर ध्वनि! वन्य जन्तु के आर्तनाद! ऐसे ही समय एक ऊँचे टीले पर आकर खड़ी हो गई मठ की स्वामिनी उल्का!

उस नारी के शरीर से यौवन ने विदा की शहनाई बजा दी थी, और यौवन एवं प्रौढ़त्व के मध्य में जैसे होड़-सी लग गयी थी! परिहित गेरूआ बसन से, रुद्राक्ष-माला और त्रिशूल से पवित्रता चुई पड़ रही थी। सौम्य मुख में भक्ति, श्रद्धा साकार थीं। रूखे, लम्बे खुले हुये केशों से घिरे हुये मुखपर वैराग्य मूर्त था।

निविड़ दृष्टि आकाश पर निबद्ध किये उल्का खड़ी थी, और कब तक यों ही खड़ी रह जाती सो वह स्वयं ही कदाचित् जान न पाती, यदि ऊषा की लालिमा में श्वेत बक के झुंड प्रभात की सूचना घोषित न कर देते।

भूमि-कम्प कब बन्द हो गया था, सो उल्का को कुछ भी स्मरण नहीं। प्रभात की सूचना से चकित वह लौटकर खड़ी हो गयी और तब उसने टीलेपर अपने साथी रूप में पाया एक और व्यक्ति को। कब वह आया और उस प्रलय-रात्रि में कब उसका साथी बन गया, यह सब उल्का कुछ भी नहीं जानती। सहसा उल्का सिहरकर अकड़-

सी रही! उसके नेत्र कुछ क्षण के लिए उस व्यक्ति के मुख पर निबद्ध हो रहे। हाँ, वह सुरेश था।

जैसे सहसा उल्का चौंकी थी, वैसे सहसा वह सहमी भी। फिर शांत गति से टीले पर से उतर कर नित्य की भांति नदी में स्नान करने चल दी।

कुटिया उलटी पड़ी हुई थीं। मठ-वासिनी गण एवं अतिथि-समुदाय प्रातः के प्रकाश में मठ में एकत्रित थे। मठ-वासिनियों के नेत्र व्यथा से भरे हुए थे। निपीड़ित वेदना से वह देख रही थीं—भूमि कम्प ने उनके जीवन भर के सुख दुख और श्रम का आश्रय पल भर में किस प्रकार निष्ठुरता के साथ विमर्दित कर दिया है। सहानुभूति के साथ अतिथियों ने कहा—"आप लोग व्यस्त न हों, चिन्ता न करें, हम दिन भर परिश्रम कर कुटियाँ तैयार कर देंगे।"

स्नान-पूजा समाप्त कर उल्का वहाँ पहुँची। उस गति में न जड़ता थी, न अधीरता। साधारण दृष्टि से उसने उजड़े हुए मठ की ओर देखा। फिर स्मित हास्य से बोली—"घड़ी भर के प्रलय ने सृष्टि पर जय पा ली है, मेनका; किन्तु बरगद के पेड़ को फिर भी वह नहीं छू सका।"

एक अदम्य विस्मय से सब ने उल्का की ओर देखा—कैसी है यह नारी! दुनिया के ध्वंस को भी जो सरल हास्य से देख सकती है, ऐसी का मन किस धातु से बना हुआ है?—कदाचित् ऐसे प्रश्न सबके मन में एक ही पल में उठे हों!

"मठ का मठ उजड़ गया और तुम हँस रही हो देवी!"—कल्याणी झुँझला पड़ी।

उल्का मुस्करायी—वही शान्त, धीर मधुर मुस्कान! "उजड़ना ही तो दुनिया का नियम है। सृष्टि और संहार साथ ही साथ चलता है, फिर इसके लिए आँसू बहाना कैसा? जीवन का अन्त तो यही है न कल्याणी?"

"जीवन का अन्त यही है?"—कल्याणी मानो उस शब्द की

प्रतिध्वनि कर उठी ?

अवाक्! विस्मय से सब ने सुना—"हैं! यही है यही—यही और यदि इसके लिये खुशी मनायी नहीं जा सकती है, तो आँसू बहाने में भी कोई महत्व नहीं है। अच्छा, तो मैं जा रही हूँ शिव-मंदिर में; तुम सब भी अभी आओ। आज पूर्णमाशी-उत्सव है।"

वैसे ही झुंझलाकर बोली कल्याणी—"मन्दिर का चिन्ह भी न होगा। वहाँ सबके बैठने से वहाँ पेट का अन्न भी न मिलेगा, और न तो रात की नींद। देख नहीं रही हो देवी, झोपड़ियाँ उल्टी पड़ी हैं? सीधा-सामान सब जो बर्बाद हो गया है; उस पर अतिथि आये हुए हैं।"

"अच्छा-अच्छा।"—इसके बाद उल्का ने आँखें उठाकर भी किसी ओर न देखा, और न उत्तर-प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा ही की। वैसे ही हँसमुख से वह मन्दिर की ओर लौट पड़ी।

(३)

अर्द्धभग्न शिवमन्दिर अविराम तुषार-पात से श्वेत ऐरावत की भांति प्रतीत हो रहा था। गिरिराज तुषारपात से शुभ्र हो रहा था। पर्वत पर शिव का अर्द्धभग्न मन्दिर। मन्दिर के भीतर सामान्य पूजा उपकरण—धतूरे के फल, पुष्प, बेलपत्र, धूप-दीप, और गेरुआ बसन परिहिता पुजारिणी उल्का, काले पत्थर का बृहत् शिवलिंग! बस, वहाँ था इतना ही!

कर जोड़कर निमीलित नेत्रों से संन्यासिनी ध्यान में मग्न थी। और कदाचित् उन रुद्ध नेत्रों के भीतर शिव का जटाजूटधारी सौम्य रूप साकार रहा हो, न रहा हो, या तो शायद और कुछ रहा हो, कौन जाने? किन्तु ध्यान में वह मग्न थी, इतना तो ठीक ही है। अन्धकार ने पृथ्वी को ग्रास करना चाहा, किन्तु ज्योत्सना की झिलमिली ने उस तुषार-पात में प्रतिफलित होकर विश्व में अमरावती का सपना सत्य कर दिया।

"देवी" मृदु स्वर से कल्याणी ने द्वार पर से पुकारा। रात्रि तब गम्भीर हो रही थी। उल्का ने भक्ति से देवता को प्रणाम किया,

फिर मन्थर गति से बाहर आकर खड़ी हो गई। उस अर्द्धस्फुट चाँदनी में सहसा उसका जी न जाने कैसा कर उठा!

कल्याणी कहने लगी—"अतिथियों के अथक परिश्रम से कुटियाँ बन चुकी हैं, भोजन अब तैयार है। तुमने दिनभर जल तक ग्रहण नहीं किया। हम कई बार मन्दिर-द्वार पर आकर लौट गयी हैं, तुम समाधिस्थ थीं। भूख प्यास तो तुम्हें कभी लगती ही नहीं, किन्तु इस प्रकार उपवास से शरीर कब तक टिका रह सकेगा देवी?"

परन्तु उल्का के निकट से इस अनुयोग का उत्तर कुछ भी नहीं आया। उसे देखकर यह जानना कठिन था कि कल्याणी की बातें उसने सुनीं या नहीं सुनीं।

मठ के प्रवेश-द्वार पर वह टीला वैसे ही उन्नत मस्तक खड़ा था। उल्का की दृष्टि अनायास उस ओर उठ गयी, और किस लिए, सो नहीं कहा जा सकता है। उसके पैर वहीं पर आबद्ध-से हो रहे। यह टीला उसका आजन्म परिचित था। न जाने उसके कितने ही सुख-दुख की कहानियाँ उस टीले के धूलि-कण में जड़ित थीं और गत कल की प्रलय-रात्रि की उसका सहयात्री—जो कि—

"एक प्रलय-रात्रि के अवसान में मैं इस रात्रि में किस भीषण प्रलय का आभास पा रही हूँ देवी?" अदम्य विस्मय से उल्का को निहारती हुई कल्याणी बोली।

और इसके बाद उल्का के मुँह की हंसी न जाने क्यों फीकी पड़ गई। झटिका की भांति उन्मत्त गति से वह चल पड़ी।

विमूढ़ कल्याणी धीरे-धीरे मठ की ओर बढ़ी!

(४)

परिस्फुट ज्योत्स्ना, जमे हुए बरफों का पर्वत! ज्योत्स्ना के प्रकाश में ऊंचे-ऊंचे टीले, पत्थर, वृक्ष और पर्वत धूमायित मेघ की भांति प्रतीत हो रहे थे।

मठ गम्भीर सुषुप्ति में अचेत था। उस सुप्त रात्रि के हृदय को चीरती हुई अनमनी-सी उल्का देव-मन्दिर से लौटी। किन्तु कुटीर में

पहुँचने के पूर्व नेत्रों के सामने वह टीला अड़ गया और कुटीर में जाने के बदले पदद्वय अपने-आप टीले तक पहुँच गये। एक आकर्षणशक्ति ने चुम्बक की भांति उसे अपनी ओर खींच लिया।

आकाश की ओर मुँह किये-किये उल्का टीले पर खड़ी हो गयी। बगुले की टोली पुकारती हुई उसके सिर पर से निकल गयी। वन-वीथि में अजगर फुफकारने लगे, झाड़ी-झुरमुट, पर्वत-कन्दराओं में एक दर्दी हंसी फुसफुसाने लगी। रोमाञ्चित कम्पित उल्का सिहर कर वहीं बैठ गयी। उस-जैसी संन्यासिनी और गिरि-क्रोड़ में जन्मी-पली हुई साहसी उल्का का जी भी, न जाने क्यों, धक-धक कर उठा!

विस्मय से उसने चहुँ ओर देखा और अपने हृदय-रन्ध्रों में भी शायद झांक कर देखना चाहा। उसे लगने लगा—उसका त्यागी मन, अतीत के निविड़ अवगुण्ठन में न जाने कौन-सा रस ढूंढ़ता फंसा-फंसा फिर रहा है!

पल-पल में सहमी और फिर मुद्रित नेत्रों के भीतर शिव-मूर्ति को साकार करने की चेष्टा करने लगी।

इन बन्द आंखों के नीचे! पहले जम गया—गम्भीर अन्धकार। फिर विद्युत्-प्रकाशवत् कई चित्र चल फिर-से उठे—मन्दिर और जटा-जूटधारी वृद्ध संन्यासी के निष्काम क्रीड़ारत कुन्दपुष्पा-सी शुद्ध बालिका! गिरि-यात्रियों की भीड़। महामारी में पीड़ित, मृतप्राय यात्री, सेवा-रत सुन्दरी युवती। रजत-प्रभ चांदनी में शिला-स्कंद पर उपविष्ट कन्दर्प-सा युवक! वीणा-वादिनी युवक संन्यासिनी! विदा-प्रार्थी युवक! बटके नीचे प्रतीक्षा-रत संन्यासिनी विनिद्र रजनी व्यतीत करती हुई! रुग्ण-शय्या पर वृद्ध संन्यासी! तरुण संन्यासिनी! कौसर, घण्टा-ध्वनि और आराधना—रत पुजारिणी! हरिण-शिशुओं की टोली! प्रौढ़प्राय संन्यासिनी के भक्ति-स्थिर नेत्र। और—

सहसा सिहर कर उल्का उठ कर खड़ी हो गयी। जीवन के अन्त में साधना के शेष में—जब कि केवल अमृत का कलश ही लेने को बाकी रह गया था तब यह कहां के कैसे दुःस्वप्न ने उसे आनकर घेर

लिया, जब जीत ही जीत में उसका नारीत्व भर उठ रहा था, तब यह हारने की बात कैसी ?

खड़ी-खड़ी वह कांपने लगी। और उसके बन्द नेत्रों के भीतर, न जाने कैसे-कैसे चित्र काया पा बैठने लगे। विदा-प्रार्थी युवक के ढलते हुए आंसू; और उन्हें पोंछती हुई एक तरुणी; तरुणी के कान में झुक कर युवक की प्रतीक्षा-वाणी—

रोमांचित उल्का ने आंखें खोल दीं और खुले नेत्रों के सामने ! ज्योत्स्ना के मानो अग्नि-स्फुलिंग की तरह सहस्रों स्फुलिंग जल उठे। उल्का उन्मादिनी-सी चहुँ ओर देखने लगी।

उसे लगने लगा, मानो वह प्रज्ज्वलित स्फुलिंग उसी के हृदय से निकलकर उसके चहुँ ओर ताण्डव नृत्य कर रहे हैं ! उन स्फुलिंगों में वैसे ही, न जाने कितने साकार हो रहे थे !

उसके नेत्रों में अँधेरी घनी होने के पूर्व ही ज्वालामुखी-सी प्रज्ज्वलित अग्नि धधक उठी—हां, बिलकुल उसके हृदय से लग कर ! और उसके बाद उल्का का अचेतन शरीर टीले पर से लुढ़कने लगा। सुरेश ने दोनों बाहों में उसे समेट लिया—"तो मुझे क्षमा किये बिना ही चल दोगी उल्का ?" किन्तु किसी ने उत्तर न दिया।

उसके बाद ? बात ऐसी है कि पार्वत्य के नग्न वायु में सुरेश का वह कातर स्वर गूंजने लगा और संन्यासिनी के हृदय से निकली हुई ज्वाला विश्व में व्याप गयी।

भोर की बेला में कंठ के अधिवासी उल्का और सुरेश के मृत शरीर को घेर कर खड़े हो गये। विस्मय से उन लोगों ने देखा—एक बड़ा जुगनू उल्का के हृदय में बैठा दीप-शिखा जला रहा है और ठीक वैसा जुगनू सुरेश के हृदय पर बैठा है।

तो बात यों है कि लोग कहते हैं—आज भी रात्रि के शेष प्रहर में दो बड़े-बड़े जुगनू टीले पर दीप जला कर बैठे रहा करते हैं।

बहता फूल

नर्मदा नदी उस दिन अपनी मन की बात संगीत में प्रकाश करने लगी। कदाचित् यह उसका गान न हो, रोदन हो, या मिटती हुई सृष्टि के लिए करुण विलाप हो, या जो कुछ रहा हो। परन्तु बात यह है कि उसके उस रोदन या गान से उसका तन फूल रहा था और फूलता चला जा रहा था। अन्त तक वह गम्भीर निनाद से फट पड़ी और उसके तट पर बसा हुआ मढ़ला एक दम विमूढ़ हो रहा। उसे सोचने विचारने का समय भी तो न मिला। उस जल स्तम्भ के नीचे असहाय शिशु की भाँति मढ़ला शहर मरमिटा; मरमिटा। न कहीं मकान का चिन्ह, न कहीं ज़रा सी हरियाली। जीव जन्तु की आहट नहीं। ऊपर बादलों से घिरा आकाश और नीचे जल। जल और जल अथाह जल। जन सेवक सचेत हुए। बाढ़ पीड़ितों की सहायता का आवेदन चहुँ ओर गूँजने लगा।

उस बाढ़ को देखने के लिए जबलपुर शहर नर्मदा तट पर उमड़ सा पड़ा। किन्तु कहाँ नर्मदा और कहाँ नर्मदा तट। नर्मदा पथ जल से एकाकार हो रहा था। सिरिराम बढ़ई का पिता भूराराम भी साथियों के साथ बाढ़ देखने चल पड़ा। पत्नी लखिया के टोकने पर कह दिया। चार छः घन्टे मैं न रहूँगा। तो क्या हुआ, सिरी तो है। वह मिस्त्रियों

का काम देख लेगा।" और वाद-प्रतिवाद की प्रतीक्षा किए बिना वह चल पड़ा। भूरा के मन में कुछ तो बाढ़ देखने की लालसा थी, कुछ थी. पाने की। एक बार उसे बाढ़ में एक कीमती लकड़ी मिल गई थी जिसकी उसने अलमारी बना कर अधिक मूल्य में बेचा था और एक ढोलक बना ली थी, जो घर में रखी है। और औसर काम में निकाली जाती है। वैसी चीज़ शहर में है ही कहाँ? भूरा पहुँचते पहुँचते पहुँच ही गया। सन्ध्या हो चुकी थी। देखने वाले प्रायः लौट चुके थे। बाढ़ देख कर वह और उसके साथी चकित हो रहे थे। ऐसी बाढ़ उन लोगों ने जीवन में देखा नहीं। तो भी जल उतार की ओर था। अचानक भूरा पीछे कूदा। 'अरे बाप रे।'

'क्या है—क्या है' कहते साथी भी पीछे हटे।

'मुरदा' बोला भूराराम और फिर सामने बढ़ कर देखने लगा। छप्पर के टूटे टुकड़े पर एक मरी सी लड़की पड़ी थी। 'चलो घर लौटें भैया' साथी अहीर बोला। उस बात को अनसुनी सी करके भूरा वहीं बैठ गया और हिला डुला कर शव की परीक्षा करने लगा। बोला—"कैसी सुन्दर लड़की है बेचारी। अरे भैया! यह मरी नहीं देखो, देखो।"

किन्तु साथी दूर ही खड़े राम राम जपने लगे। भूरा ने द्विविधा किया न किया। फिर सबल बाहों से लड़की को उठा कर चल पड़ा। रेल के पुल के पास उसे ताँगा मिल गया। उस पर सब बैठे और लड़की को गोद में रख लिया।

घर पहुँच कर आनन्द अधीर स्वर से भूरा चिल्लाने लगा—'सुन तो सिरी की माई दौड़ जल्दी, दुलहिन को सँभारै। लखिया दौड़ी दौड़ी आई और उस अर्द्धमृत शरीर को देख कर स्तब्ध रह गई।

"खड़ी क्या ताक रही है? पानी वानी ला। बच्ची के मुँह पर छिड़क। अभी सुध में आ जावेगी।"

इस बार लखिया झुँझला पड़ी—"कहाँ से मुरदा उठा लाए हो। अब जलाओ जाकर। मैं भी देखती हूं जलाने का खर्च, ताँगे का भाड़ा कौन देता है?"

परन्तु अपनी खुशी में मस्त भूराराम लड़की को उठा कर भीतर चला गया और चारपाई पर सुला कर उसके हाथ-पैर सेंकने लगा। धीरे धीरे जब वह कुछ हिली सी तब लखिया का असन्तोष बिल्कुल ही जाता रहा। उपरान्त दूध गरम करके उसके मुँह में डालने लगी। सिरिराम भी पहुँचा और भावी पत्नी का रूप देख कर आनन्द में विभोर हो गया। बाड़े के प्रायः सब व्यक्ति एकत्रित हो गये।

बाड़ा बड़ा था। उस बाड़े में कई घर रहते थे। उन सब के भीतर भूराराम की अवस्था अच्छी थी। तीन कोठे, परछी, थोड़ा सा आँगन उसने किराए पर लिया था। बढ़ई का वह काम करता था। परिवार में वह, पत्नी और युवक पुत्र सिरिराम, यह तीन व्यक्ति थे। बाड़ा था हरिसिंह का। सामने द्वितल अट्टालिका में हरिसिंह रहता था। काम काज के अवसर पर उस घर की स्त्रियाँ खिड़की पर खड़ी हो जातीं और बाड़े की ओर देखती रहतीं। उन दुःखी, अशिक्षित परिवारों का आचार, नियम, काम-काज, रहन-सहन देख कर शायद वह परिहास से हँसतीं, शायद दया से नेत्र भर उठते, या उनकी कठोर समालोचना करतीं। किन्तु इन बातों के लिए बाड़े के अधिवासियों के मन में न उत्सुकता रहती, न सन्तोष, न असन्तोष। वे सब अपने आप में मस्त रहते। काम काज, मार पीट चलता रहता। हाँ, यदि कभी किसी बहू की दृष्टि ऊपर को उठती तो वह ज़रा सा घूँघट अवश्य काढ़ लेती। आज भी उस बड़े मकान की खिड़की खाली न थी। कौतुक, उत्कंठा से वहाँ स्त्रियाँ खड़ी बाड़े में पड़ी हुई लड़की को देख रही थीं।

(२)

पुष्प ने आँखें खोलीं। उसे कुछ भी स्मरण न आया। लगा एक स्वप्न उसे चहुँ ओर से जकड़े हुए है, कभी वह स्वप्न उसे जल का एक बुदबुद बना देता है। कभी मीन सुन्दरियों से परिचय कराने को उत्सुक हो जाता है, कभी जल की चादर पर उसे थपकियाँ दे दे कर सुला देता है और कभी कुछ यमदूतों के हाथ में उसे समर्पण करता है। पुष्प को आँख खोलते देख कर बाड़े वाले हल्ला कर उठे—है—है,

अभी है। अभी आँखें खोली थी।" पुष्पलता ने ज़ोर से आँख दबा ली, जानें कैसा विचित्र स्वप्न है। वृद्ध पिता के भोजन कर लेने के बाद उसने भोजन किया था और फिर सो गई थी। उसके बाद ही से तो स्वप्न आरम्भ हो गया। एक गर्जन सा कुछ रहा और उसके बाद स्वप्न निकल आया, उस गर्जन का पेट चीर कर। जल के तलदेश मे वह चली गई, वहाँ जाने कैसे कैसे विचित्र जीवों को उसने देखा और दूसरे पल मानों किसी ने उसे ऊपर की ओर फेंक दिया। जल में वह डूबने लगी, श्वास रुक गई। एक सहारासा मिल गया बड़ी कठिनाई से उसे उसने पकड़ लिया। बस, फिर बीच का कुछ स्मरण नही। अब तो यमदूत उसे घेरे खड़े हैं। अचानक पुष्प को लगा, वह मर गई है और यमदूत उसे ले जाने के लिये लाए हैं। कैसे मज़े से उसके दिन कट रहे थे। मा को उसने कभी देखा न था, न और किसी को। पिता और वह, दोनों आराम से रहते थे। मैट्रिक की परीक्षा वह देने को थी, पिता उसे कितना प्यार करते थे। पिता की बात याद आ जाने से उसे रोना आ गया। उन्हें छोड़ कर वह कैसे रहेगी? पुष्प रो पड़ी, रो पड़ी।

अत्यन्त दया से लखिया कहने लगी, "रोती क्यों है बिटिया, घबरा न, मैं तुझे बहू बना लूँगी। मेरा सिरिया अच्छा रहे, तुझे दुख किस बात का है?"

पुष्प अवाक् रही। यह तो मनुष्य की तरह बातचीत करते हैं। मनुष्य से लगते हैं।

भूराराम खिसिआया—"लगी टाँय-टाँय करने, पहले उसे कुछ खाने पीने को तो दे दे, फिर पतोहू बनाना। अभी तो कह रही थी सड़ा मुरदा उठा लाये और अब पतोहू बनाने बैठ गई।"

लखिया भी क्या कम थी, उलटा जबाब उसने दे दिया "कौन बनाता है उसे बहू? मेरे सिरिया सा लड़का बिरादरी भर में है कहाँ? बिरादरी वाले मुँह बाए बैठे हैं कि कब लड़की दें। सिरिया के लिये अच्छी से अच्छी लड़की मिल जायगी। जाने कहाँ से मुरदा उठा लाए। जात-

पाँत का कुछ ठिकाना नहीं।"

"रहने दे जात पाँत। मैं तो इसे ही बहू बनाऊँगा, ऐसी ख़ूबसूरत लड़की है तेरी जात में? कच्ची पक्की रोटी देकर बिरादरी में मिला लूँगा।"

"परजात के घर मैं क्यों लड़का ब्याहूँ?"

"चुप रह, बकवाद मत कर। अरे सिरिराम! जा तो बेटा महकू की दूकान से एक लाल चुनरी तो ले आ। हलके मोल की न लेना।"

किसी ने कहा—"क्या करते हो चौधरी, कोई बड़े घर की लड़की जान पड़ती है। मां बाप का नाम पूछ कर घर भिजवा दो।"

भूराराम ज़ोर से हँसा—"किसके घर भिजवा दूँ! क्या इसके कुटुम परिवार बाढ़ से कोई बचे होंगे? मढ़ला से बह कर तो आई है। इसी से पूछ लो न?"

पुष्प इन बातों को सुन कर एकदम चिल्ला कर रोने लगी।

(३)

परन्तु मनुष्य का एक समय ऐसा भी आता है कि वह सब कुछ सह लेता है! सो, रोते, कलपते किसी भी तरह पुष्प ने भी सह लिया। मुश्किल से उसे ज्ञात हुआ कि अपना कहने को उसके जो थोड़े से बचे थे, वे बाढ़ में बह गए। चलो छुट्टी हुई। भूराराम जैसे अपढ़, नीच जाति के साथ रहते उसकी आत्मा संकुचित होती थी, किन्तु फिर वह करती क्या? इस एकदम नूतन चाल चलन, रहन सहन में आकर वह घबरा उठी, घबरा उठी। उसे लग रहा था घुटघुट कर, धक धक कर उसकी श्वास चली जायगी और चली ही जायगी। उस पर उस विवाह की वार्ता और भी उसे निगले जा रही थी। भूराराम का परिवार उसके साथ बहुत ही सदय व्यवहार करता, वह चुनरी पहनती, कुरती पहनती और उनके साथ बैठ कर बातें करती। सिरिराम एक भक्त की भांति उसका मुँह निहारता। लखिया उसके बदन में उबटन मलती। और पुष्प? वह सिरिराम के साथ प्रभु भृत्य सा व्यवहार

करती । उसकी चिट्ठी पत्री लिख देती । डरता डरता सिरिराम कहता "मुझे अँगरेज़ी पढ़ा दोगी बिपती ?"

वह अवज्ञा से मुँह फेर लेती ।

अपने इस नूतन नाम 'बिपती' पर विद्रोह करना चाहती, मन उसका द्वितल की खिड़की पर पड़ा रहता । धनी युवक हरिसिंह आकर वहाँ खड़ा हो जाता, दोनों एक दूसरे को देखते रहते ।

पुष्प की शादी की तैयारियाँ हो चुकीं थीं । सिरिराम फूला न समाता था । पुष्प का जी क्रन्दन से भर उठा । सब कुछ तो वह सहती चली आ रही है, फिर एक असम्भव को वह कैसे सह ले ? आंगन में पैर फैला कर वह रोने बैठ गई, बाड़े की स्त्रियाँ उसे धिक्कारने लगीं । हरिसिंह बीच में आकर खड़ा हो गया । ऊपर की खिड़की में भीड़ लग गई । गरज कर हरिसिंह बोला, "कैसा अन्धेर कर रहे होचौधरी! जबरन किसी की शादी करने वाले तुम कौन होते हो ? एक दूसरी जाति की लड़की को लाकर अत्याचार करना । बहू उसे तुम नहीं बना सकते हो ।"

भूराराम अकड़कर खड़ा हो गया, "मैं उसका सब कोई होता हूँ । मुरदा उठाकर जब लाया था तब कहाँ थे आप लोग ? तब तो कोई खड़ा न हो सका था । बही चली जा रही थी, मैं उठा लाया तो उस का अधिकारी मैं कैसे न भया ?"

बात बढ़ गई । दोनों ओर लाठी तन गईं । सिरिराम ने हाथ उठाया—"ठहरो, ज़रा मेरी भी दो बातें सुन लो । बिपती अगर खुशी से जाना चाहती है, अगर वह इस शादी में राज़ी नहीं है तो उसे जाने दो दादा !"

पुष्प ने कृतज्ञ नेत्र उठाए । भूरा थमथमा रहा और ललिया ने अपना सर पीट लिया, "मैं घर की बहू को पराये के घर क्यों जाने दूं।"

सिरिराम म्लान हँसा, "बहू कैसी ? ऐसी औरत को लेकर मैं क्या करूँगा माई ?"

"क्या कहा सिरी ?"

"माफ़ तो कह रहा हूँ, जो औरत हमसे मुँह फेरे रहे, हम पर ज़ुलुम करे, वह औरत मेरे काम की नहीं है माई।" पुष्प अवाक् रह गई—यह अशिक्षित कहता क्या है, वह उसके काम की नहीं ! पुष्प जानती थी, विश्वास था उसे, इस विवाह में आपत्ति केवल उसी की ओर से उठ सकती है, और उसे पाकर वह लोग कृतार्थ हो जावेंगे। यही तो होना चाहिये था न ! फिर बीच में यह कैसे क्या हो गया ? एक भृत्य तुल्य व्यक्ति भी उसके पत्नीत्व से अस्वीकार करे और ऐसे सहज में ! पुष्प का आत्म सम्मान खिन्न होने लगा। उसका अभिमान कीचड़ में पड़ कर सर पीटने लगा। उसे लेकर हरिसिंह चला।

हरिसंह की माँ बहन पुष्प को पाकर बहुत प्रसन्न हुईं। कहने लगीं—"मेरी जाति की लड़की है, अच्छा ले आए भैया ! ठिकाने लग जायगी, देख सुन कर शादी कर दो।"

छोटी बहन कह उठी, "देखने सुनने की क्या है, भैया तो हैं ही, यह भाभी बन जायँगी अम्मा। तुम भैया से शादी कर दो।"

हरिसिंह मुसकराने लगा, पुष्प की लजीली आँखें नीचे हो गईं।

(४)

पुष्प के दिन सुख से कट रहे थे। सुन्दर वस्त्र पहनती, हारमोनियम बजाती, सजधज कर रहती। खिड़की की ओर कभी झाँकती तो उसका मन जाने कैसा उदास सा हो जाता। सिरिराम कभी भूल कर भी ऊपर नहीं ताकता। केवल रात पुष्प को बड़ी उत्कंठा, भय से काटनी पड़ती। हरिसिंह रात में जब शराब पीकर आ जाता था तो ऊधम मचाने लगता था। कई महीने बीते। पुष्प नित आशा लिये प्रभात की प्रतीक्षा करती किन्तु पहले दिन के बाद से उसने फिर शादी की चर्चा न सुनी।

अचानक एक दिन उसने कुछ बातें सुन लीं। हरिसिंह की बहन माँ से कह रही थी—"पुष्प की शादी भैया से कर दो न।" माता कठोर होकर कह उठी—"पागल हुई है। एक बाढ़ में बही आई लड़की कहीं इस घर की बहू बन सकती है ! वह कहती है तो क्या

हुआ, मैं कैसे मान लूँ कि वह धरमसिंह की लड़की ही है ! हरी की शादी यमुना की बहन से करूँगी।"

"यह कहां जायगी मां ?"

"देखा जायगा पीछे से। यदि कोई ग़रीब इससे शादी करे तो हो सकता है।"

"परन्तु मैं कहे देती हूँ, भैया उसके सिवा किसी से शादी न करेंगे।"

"चल, चुप रह, मेरी बात पर बात करने वाला वह होता कौन है ! यदि ऐसा हुआ तो एक रखैल सी पुष्प भी रह जावेगी, बस।"

पुष्प सुन कर सिहरी।

उसके बाद माता हरिसिंह की शादी की जल्दी करने लगी। हरिसिंह ने सब कुछ सुना और चुप हो रहा।

❀ ❀ ❀

उस दिन पुष्प स्कूलों में घूमती फिर रही थी। नौकरी की तलाश में। नौकरी एक खाली भी मिली तो वहाँ ग्रेजुएट की ज़रूरत थी। सर्दी और धूप में वह मारी मारी फिरने लगी। जब कहीं कुछ न हो सका, तो उसने अपनी अँगूठी बेंची और थोड़ा सा सामान लेकर बाजार में पान की दूकान खोल बैठी। बैठने की देर थी। दूकान रप भीड़ लग गई। पैसों की वर्षा सी होने लगी। परन्तु उन पैसों को छूते, जिनके साथ कितने ही कुत्सित हास परिहास जड़ित थे, वैसे पैसों को छूते उसका जी छोटा पड़ गया, बिलकुल छोटा।

उन लालसा-पूर्ण, कुत्सित दृष्टि के नीचे दूकान पर बैठना उसके लिए असम्भव सा हो गया। आँसू से उसकी श्वास भारी होने लगी—ऐसी बड़ी दुनियाँ में क्या मुझ अभागिनी के लिए मुट्ठी भर जगह नहीं है ! उत्तर तभी मिल गया। एक व्यक्ति अचानक कह उठा, "रङ्गीली पानवाली, क्यों मुफ़्त में मिहनत करती हो ! तुम्हें कमी किस बात की है ! मेरे घर चली चलो। मैं सर माथे पर रक्खूँगा।"

पुष्प रो पड़ी। सिसक सिसक कर वह रोने लगी। ठीक उसी पल में

बलिष्ठ हाथों के प्रहार ने उस व्यक्ति को धराशायी कर दिया। विस्मित पुष्प ने मुँह उठाया। सिरिराम को उस व्यक्ति के छाती पर चढ़ा पाया। भीड़ लग गई, सिरिराम उठा और एक सम्राट सा अकड़ता चल दिया। लौट कर पुष्प की ओर उसने देखा भी नहीं। लोगों के पूछने पर मिनट भर के लिए वह रुका, बोला—"जो माता हमें जन्म देती है उसी का यह अपमान कर रहा था। तो मैंने जरा सी सजा दे दी।"

दूसरे दिन से पानवाली दूकान पर बैठी न मिली।

प्रभात होने में देर थी। अन्धकार नहीं रात्रि थी, उजेली। उस उजेली रात में सिरिराम के द्वार पर आकर खड़ी हो गई, पुष्पलता।

द्वार की आवाज़ से सिरीराम आंखें मलता बाहर आया। पुष्प को उसने देखा, फिर स्मित हास्य से बोला, "अभी तक जाग रही हो, बिपती! जाओ, सो रहो, मैं बाहर पड़ रहूँगा।" वह ऐसे बोला मानो पुष्प उसकी आजन्म परिचिता हो और जन्म जन्मान्तर दोनों साथ रहते चले आ रहे हों। जैसे बीच में पुष्प कहीं गई ही न हो, कुछ मनो मालिन्य हुआ ही न हो। "सोने के लिए मैं नहीं आई हूँ। जब दुनिया में कहीं जगह न मिली तब तुम्हारे द्वार पर लौट आई हूँ। सिरिराम! मेरे लिए थोड़ी सी जगह होगी यहाँ?"

"घर तो तुम्हारा यही है, बिपती! यदि इस घर में तुम्हें जगह न होगी तो मुझे कैसे हो सकेगी?"—सिरिराम शान्ति स्वर से बोला। गहरे बिस्मय से पुष्प ने एक बार उसे देखा, फिर धीरे धीरे घर के भीतर चली गई।

मन की देन

(१)

नील आकाश तले गृहगामियों की कर्मव्यस्तता, सन्ध्या की शङ्ख-वन्दना में पङ्ख पसारे कपोत-दम्पती अपने बसेरे की ओर भागे चले जा रहे थे। चीलों का झुंड वायु में तैरता घर जाने की धुन में व्यस्त था। सो धरती पर थी वही व्यस्तता। खोञ्चे वाले, कपड़े की फेरी करने वाले आदि अपनी अपनी वस्तुएँ सँभाले घर को भाग रहे थे। केवल तांगे वालों में उस व्यस्तता का अभाव था। दिनभर का उपार्जन उनका इतना नहीं हो पाया था कि घोड़े का दाना चारा खरीदकर भी अपने लिए कुछ बचा सकें।

रामअवतार था उन्हीं में का एक अभागा। अलस गति से घोड़ा चल रहा था, वैसे ही लगाम थामे निरुद्देश यात्रा कर रहा था वह। एक सवारी भरा ताँगा तीव्र गति से उसी की बगल से निकला। रामा की आँखों में ईर्ष्या का ज्वालामुखी फट पड़ा--क्यों क्या उसका ताँगा घोड़ा खराब है? क्या वह लम्बे वर्षों से ताँगा नहीं चला रहा है? फिर दो दिन से उसे एक भी सवारी क्यों नहीं मिल रही है? और फिर दूसरे बेवकूफ़ तांगेवालों की तरह वह अपना रेट खराब करे भी क्यों? बस, यही उसका अपराध है, तो इसके लिए इतनी बड़ी सज़ा? दो दिन से

उपवास ? परन्तु इस मूक जीव घोड़े ने विश्व का क्या बिगाड़ा है ? यह बेचारा तो वर्षों से मनुष्य की सेवा करता चला आ रहा है। कितने ही लँगड़ों-अन्धों को इसने सहारा दिया। दिन भर परिश्रम और प्रहार, बदले में शायद पेट भर दाना-चारा भी इसे न मिला होगा। और फिर अब तो बात भी दूसरी है। रुपये में चार सेर चना। तो ऐसी स्थिति में उसने छः पैसे दो आने सवारी लेने से इनकार किया हो तो क्या अनुचित किया ? सोचते सोचते रामा का चित्त विश्व-संसार से ही विमुख हो उठा।''

'एक पैसा बाबा, अन्धे भिखारी को एक पैसा।'

रामा जब कभी उस पथ से निकलता तो उस अंधे भिखारी को एक पैसा दे दिया करता, किन्तु उस दिन वह सहसा उत्तप्त हो उठा एवं चाबुक घुमाकर उसे जोर से मार दिया। और जब तक विस्मित, क्षुब्ध भिखारी कुछ कहे तब तक उसका ताँगा गली में घुस गया।

पड़ोसी घनीराम ने उसे पुकार कर रोका—'घर लौट रहे हो तो मुझे भी ले लो।'

रामअवतार आग-सा जल उठा—'दो दिन का भूखा घोड़ा तुम जैसे हाथी को नहीं ढो सकता।' रास ढीली कर रामा चुपचाप बैठा रहा। घोड़ा एक ओर चल दिया।

'ताँगावाले, रोको-रोको,।' उस व्याकुल नारी स्वर से रामा ने मुड़कर देखा तो मलिनवसना किशोरी पर दृष्टि पड़ी।

'क्या है ? ताँगा खाली नहीं है।' कर्कश स्वर से उसने कहा।

'खाली तो है।'

'जवाब-सवाल नहीं कर सकता।'

घोड़े को आगे बढ़ते देखकर लड़की पथ रोककर खड़ी हो गई— 'मेरी माँ मर रही है, दया करो तांगे वाले। डाक्टर बुलाना है। चलो।'

दया !—वह विकट हास्य कर उठा—किन्तु उस पर, उसके घोड़े पर कब किसने दया की है !

रामअवतार ने लौट कर देखा। तरुणी तांगे पर बैठ गई है।

'जल्दी चलो तांगेवाले, डाक्टर राय की डिस्पेन्सरी।'

रामा बड़बड़ाता हुआ ताँगा चलाने लगा।

'माँ—मेरी माँ कैसी हुई जा रही है, देखो ताँगेवाले।' कमला रो उठी।

टूटे से तख्ते पर मलिन चादर। एक गतप्राय-यौवना नारी पड़ी अन्तिम श्वास ले रही थी। रामा ने देखा और फिर देखा। उसे लगा, नारी युवावस्था में अतीव सुन्दरी थी। घर में भयानक सील। एक ओर खूटियों पर कुछ सादी, कुछ रङ्गीन साड़ियाँ, धुँधले से दर्पण के निकट पाउडर, महावर आदि सामान्य प्रसाधन-सामग्री। एक ओर छोटा-सा हारमोनियम, स्याही निकले तबले की जोड़ी।

'तांगेवाले, मेरी माँ-माँ।' कमला हाहाकार कर उठी।

वह नारी निस्पन्द पड़ी थी। रामा ने झुककर नब्ज देखी, कहा—

'चल बसीं।'

'माँ नहीं है? यदि डाक्टर राय आते तो मेरी माँ बच जाती।'

'क्यों वह आता? पैसा तुम दे सकती थीं? उसने तो साफ इन्कार कर दिया। जिन्दगी है, जीना है अमीरों के लिए, गरीबों के लिए नहीं। बस चुप रहो।'

कमला तब मृत माता से लिपटी रो रही थी—'दुनिया में मेरे लिए एक तू थी, सो तू भी चल बसी। मैं जिऊँगी कैसे?'

रामअवतार खड़ा-खड़ा देखता रहा, फिर धीरे से बोला—'हटो, इनका अग्नि-संस्कार करना है।'

भोर रात्रि में शव दाह कर रामा जब पुनः वहाँ पहुँचा, तब रो-रो कर कमला की आँखें लाल टेसू हो रही थीं।

रामा बैठ गया, पूछा—'तुम्हारा और कोई नहीं है?'

'नहीं।'

'बाप, चाचा, भाई कोई भी नहीं है क्या?'

'पिता को मरे बहुत वर्ष हुए। गाँव में चाचा हम दोनों को ले

गये थे। मुझे कुछ कुछ याद है अब भी। माँ दिनभर वहाँ काम करती घर का, गाय-बैलों का, खेत आदि का सभी काम करती; और चाची चारपाई पर बैठी बका करें। बुआ, दादी कभी-कभी माँ को मार भी दें। एक दिन न जाने क्या हुआ, सोते से जब जगी तो देखा माँ और चाचा के साथ मैं रेल पर बैठी हूँ। शायद तीसरे दिन हम यहाँ पहुँचे। दो दिन चाचा हमारे साथ थे, तीसरे दिन देखा कि चाचा नहीं हैं और माँ खूब रो रही है। फिर माँ खूब बीमार पड़ी।

'क्या हुआ था?'

'नहीं जानती। कमजोर बहुत हो गयी थीं।'

'समझा। अच्छा तुम्हारे घर क्या बहुत से लोग आया करते थे? गाना बजाना होता था?'

'गाँव के घर में नहीं, यहाँ आने के कुछ दिन बाद से ऐसा होता था।'

'और तुम?'

'माँ मुझे स्कूल भेजती थी। बड़ी हुई तब बोर्डिङ्ग में भेज दिया। फिर कोई आठ या दस महीने से हमने उस घर को छोड़ दिया था। माँ इस घर में रहने लगी थी और मुझे भी बोर्डिङ्ग से बुला लिया था। रो-रो कर माँ कहा करती थी—'सोचा था तुझे पति की पत्नी बनाऊँगी, पढ़ाऊँगी कुछ न हुआ। आज मैं भिखारिन बन गयी हूँ। और जाने क्या क्या कहती।'

'अब और कोई नहीं आता था?'

'नहीं। केवल एक आदमी कभी-कभी आता था। शराब पीकर इस बीमारी की दशा में मां को कभी मारता कभी दो चार आने फेंक देता। दो महीने से वह भी नहीं आता था। बासन, कपड़ा जो कुछ भी बचा था वही बेचकर अब तक चला। कमला फिर रोने लगी—

'मेरा कोई नहीं है। कहां जाऊँ, क्या करूँ?'

रामअवतार सामने आकर खड़ा हो गया—'चुप रहो कमला, मैं हूं तुम्हारे लिए।'

(३)

'बहू तू इतना क्यों सहती है ? ऐसी खूबसूरत, जवान लड़की के लिये मुहल्ले के अमीरों के घर जगह की कमी न होगी। रामा के पास है ही क्या ? भरपेट खाना भी तो नहीं दे सकता। ऊपर से शराब पीकर मार पीट। देखो दरवाजे पर श्रीनाथ बाबू खड़े हैं। तुझे लेने आये हैं। चल।' पड़ोसिन राधाप्यारी कह रही थी।

कमला ने आँख उठाकर देखा, जरा घूँघट निकालकर बोली—'मारते पीटते हैं, वह भी तो मेरे ही लिए। मुझे वह जिस सुख, आराम से रखना चाहते हैं, वैसा उनसे बनता नहीं। अपनी कमी, अपनी अयोग्यता पर उन्हें क्रोध आता है, दुःख होता है। फिर वह गुस्सा उतारें किस पर ? मेरे सिवा उनका है भी कौन ?'

'चुप भी रह बहू। कहाँ तू और कहाँ रामा, सोने से यह तुझे मढ़ देंगे। देख तो जरा—कैसे सजीले जवान हैं यह।'

'फिर भी उनके हृदय है न मौसी। उन्हीं ने मुझे पत्नी का आसन देकर मेरे नारीत्व का सम्मान किया है न। वह गरीब हैं, बदसूरत हैं, तांगेवाले हैं, फिर भी उनमें हृदय है। अमीरों के हृदय होता भी कहाँ है मौसी ? ताँगे की ज़रूरत है क्या श्रीनाथ बाबू ? तो बाहर जा कर बैठिये, वह आते ही होंगे।'

कल्पना की देन

(१)

ट्रेन का प्रत्येक कम्पार्टमेंट यात्रियों से भरा हुआ था, नहीं—वरन् यों कहने से अतिशयोक्ति न होगी कि माल—असबाब हो रहे थे उस समय ट्रेन यात्री। कोई खड़े, कोई बैठे, कोई खिड़की से झूलते हुए चले आ रहे थे। एक तो ट्रेनों की कमी, दूसरे हरिद्वार में अर्द्धकुम्भ का मेला।

रात्रि में मुरादाबाद के स्टेशन पर ट्रेन रुकी और तब एक महा-प्रलय-सा आरम्भ हो गया। उस चीत्कार और विशृंखलता में कोई किसी को देख, पहचान नहीं रहा था। धीराज उसी भीड़ में, मित्र सन्तोष को उतारने के लिए पहुँचा। वह हाँफता चिल्लाता सन्तोष को ढूँढ़ रहा था, पुकार रहा था, किन्तु कुछ पता नहीं चला। तब वह सेकेण्ड क्लास में चढ़ गया, हाँ, इसमें सन्तोष जरूर है, भीड़ में उतर नहीं पा रहा होगा।

किन्तु उसका दुर्भाग्य, सन्तोष तो मिला ही नहीं, बल्कि वह स्वयं संकट में पड़ गया। उतरने वाले तथा चढ़ने वाले, कुली, सामान आदि के बीच में वह दब गया और फिर धक्के खाते हुए अपने को प्लेटफार्म पर पाया। तब प्राण बचने के लिए ईश्वर को धन्यवाद देते हुए विश्राम की निश्वास ली।

परन्तु यह क्या ! लेडिज़ हैंडबेग कब और कैसे उसके हाथ में पहुँच गया ! विस्मय से बार-बार उसने उस सुदृढ़ बेग को देखा। जी उसका सहानुभूति से भर उठा—कोई बिचारी इसी सेकेण्ड क्लास में पिसती, दबती हुई प्राण बचा रही होगी और यात्रियों तथा कुलियों के धक्कों से यह बेग उसके हाथ से छूट कर मेरे हाथ में पहुँच गया होगा।

धीराज ने रिस्टवाच को देखा—हाँ, अब भी ट्रेन जाने में पाँच मिनट की देर है, तब तक बेग को खोल कर देख क्यों न लिया जाए ! इसके अन्दर ऐसा कुछ मिलना सम्भव है जिससे बेग की अधिकारिणी का पता चल सके।

धीराज ने शीघ्रता से बेग खोला और सर्वप्रथम उसकी दृष्टि को आकृष्ट किया एक अपूर्व नारी के फोटो ने। उस आकृति ने जैसे हठात् उसके चिर-कुमार व्रत पर, अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा पर विद्रोह की अग्नि जला दी।

पुष्प-सुरभि-सा यह कैसा रम्य लगने लगा उसे—उसकी कल्पना की तन्त्री पर जो नारी रमी आया करती है, वह दूसरी कोई नहीं; यही है। चित्र के नीचे रमणी का नाम लिखा हुआ था 'रमला'। रमला ! कितना मधुर, कवित्वपूर्ण नाम है।

गाड़ी छूटने की सीटी बज उठी। और तब जैसे किसी अदृश्य शक्ति ने धीराज को खींचकर चलती हुई ट्रेन पर चढ़ा दिया। थर्ड क्लास के कम्पार्टमेन्ट में वह किसी प्रकार जंजीर को पकड़ कर खड़ा हो गया। जगह बिलकुल नहीं थी।

तब उसकी चिन्ता घर की ओर लौटी। किसी से कुछ कहे बिना ही एक वस्त्र से वह चल दिया। किन्तु सन्तोष ! इस नूतन देश में, अपरिचित वह, रात्रि के समय करेगा क्या, जाएगा कहाँ, ढूँढ़ेगा किसको ! केवल उसी से मिलने ही के लिए न बेचारा उतनी दूर से भागा-भागा आया है ! भीड़ में यद्यपि वह नहीं मिला, परन्तु यदि वह जरा देर अपेक्षा करता तो सन्तोष मिल कर ही रहता।

और तभी जैसे अपने मन को समझा कर धीराज ने उत्तर दिया—कोई बात नहीं, यह उसने ठीक ही किया है। नारी के सम्मान की रक्षा विश्व में सर्वाधिक प्रयोजनीय है। सम्मान-रक्षा नहीं तो क्या है? बेचारी रमला को इस बेग के बिना कितना कष्ट होगा? उसे किसी भी तरह ढूँढ़ना है और बेग उसे ही देना है।

किन्तु जाने वह कौन से स्टेशन पर उतरे। इस बात के स्मरण से धीराज मन में अस्थिर हुआ। उसने बेग को पुनः खोला और देखने लगा। कुछ नोट, छोटा आईना, कंघा, पाउडर के साथ एक लिखा हुआ पोस्ट कार्ड और रेलवे टिकट निकल आया। देख कर धीराज का चित्त प्रसन्न हो उठा। हावड़ा से हरिद्वार तक का टिकट था। धीराज निश्चिन्त हो गया—तो रमला हावड़ा से हरिद्वार जा रही है। धीराज ने पोस्टकार्ड पढ़ा—प्रिय लीना,

ट्रेन में खड़ी-खड़ी मैं तुमको पत्र लिख रही हूँ, बैठने की जगह नहीं है। हरिद्वार पहुँच कर पहला काम मेरा होगा इस पोस्ट कार्ड को डाक में छोड़ देना। मेरा बी० ए० का रिजल्ट निकलने के बाद पिता जी से एम० ए० के लिए कहूँगी। तुम लोगों की परीक्षा कब तक खतम होगी? मेरा घर का पता—मार्फत शिवदेव जी कविरत्न, कनखल, हरिद्वार।

तुम्हारी—रमला

पत्र पढ़ कर धीराज खुशी से उछल पड़ा। कौन जानता था कि इस अपरिचिता नारी का परिचय ऐसा सहज और अनायास उपलब्ध हो जायगा?

किन्तु सन्तोष! वह बेचारा इतनी दूर से आया और उसी के लिए। उस पर परदेश में, रात के समय भला वह करेगा क्या, जाएगा कहाँ? और तभी सोचता धीराज—वह पुरुष है, डरने की बात ही क्या? किसी भी ताँगे वाले से कह देगा कि इलेक्ट्रीकल इन्जीनियर, धीराज बाबू के बंगले पर ले चलो। बस, तुरन्त पहुँचा दिया जाएगा।

मुरादाबाद में मुझे पहचानता कौन नहीं? पिता जी हैं, भाभी हैं,

सब उनकी पूरी खातिर करेंगे। और हरिद्वार पहुँच कर ही पिता जी को पत्र डाल दूँगा। और कल लौटना ही है, पत्र की क्या जरूरत? दूर पर तो जाना नहीं है।

(२)

तब सन्ध्या-वन्दना का शंख भी न बज पाता। तुलसी वेदी पर दीप भी न जाने पाते। गृहस्थ गृह की गाय द्वार पर रँभाती रहती, तभी पहुँच जाता धीराज कनखल में उस वृहत् अट्टालिका के द्वार देश पर।

पढ़ा उसने दरवाजे पर साईन बोर्ड को—शिवदेव जी 'कविरत्न' और तब आवाज लगाई। नौकर बाहर आया। अपने नाम का कार्ड देकर कहा—"ले जाओ।"

"वैद्य जी घर पर नहीं हैं।"

सुन कर धीराज प्रसन्न हो उठा—अच्छा ही हुआ जो शिवदेव जी घर पर नहीं हैं। स्वयं रमला से मिल कर बेग दूंगा। आज-कल की लिखी-पढ़ी लड़कियाँ पर्दा-अर्दा मानती ही नहीं। ठीक हुआ, फिर भृत्य से कहा—"लो यह कार्ड ले जाकर रमला बीबी को दे दो।"

थोड़ी ही देर में वह वापस आया—"बीबी ने पूछा है आपको क्या काम है? बाबू जी कल तक लौटेंगे।"

धीराज ने रमला का बेग निकाल कर नौकर को दे दिया—"लो यह बेग उन्हें देकर कहना कि यह मुझे कहाँ और कैसे मिला है, यह सब उनसे कहना चाहता हूं।"

और फिर जब हृदय के द्रुततर गति को संभालता हुआ रमला की आह्वान की प्रतीक्षा कर रहा था धीराज, तब भृत्य लौटा। उपेक्षा से बोला—"उन्होंने धन्यवाद कहा है। यदि बाबू जी से मिलना हो तो कल शाम को आइए।" निराशा—अपमान से दग्ध देखा धीराज ने कि भृत्य बाजार का झोला लिए चला जा रहा है। तब झुँझला कर उसने कहा—"तुमने बीबी जी से नहीं कहा कि मैं उन्हीं से मुलाकात करना चाहता हूँ।"

विस्मय से उसने धीराज के प्रति देखा—"उनसे ! नहीं, उनसे मुलाकात नहीं होगी। मुझे बाजार की देर हो रही है।"

धीराज रास्ता रोक कर खड़ा हो गया—"तुमने कहा था ?"

"कहा क्यों नहीं ! उन्होंने कहा है आपको वे नहीं पहचानतीं। उनसे भेंट नहीं हो सकती।"

रात्रि की ट्रेन से निराशा और वेदना में दबा धीराज घर पहुँचा और दूसरे दिन पिता-माता हर्ष से उत्फुल्ल हो उठे—जब कि धीराज ने विवाह की अनुमति दे दी। शर्त उसमें केवल एक थी कि कनखल के शिवदेव जी की कन्या रमला ही वधू हो। हाँ, लड़की देखने की जरूरत नहीं, वह स्वयं देख आया है।

उधर शादी की तैयारियाँ होने लगीं इधर धीराज रमला के फोटो को अपने बंधु-बान्धवों को दिखलाने लगा। सबने एक मत से स्वीकार किया कि लड़की वास्तव में ही सुन्दरी है।

"भाभी पान दो।" हाथ पसारे धीराज खड़ा था और भाभी बीणा, बिछे हुए पान पर केवड़े का कत्था छिड़कती हुई मुस्करा दी, बोली—"हम लोगों ने हजार सिर पीटा, आपने शादी से इन्कार कर दिया, कहा कि हिन्दुस्तान की लड़कियाँ बदसूरत होती हैं, मैं शादी करूँगा ही नहीं।"

"फिर तुम क्यों चिढ़ती हो ? ठीक तो कहा था मैंने।"

"आखिर वही हिन्दुस्तानी की लड़की को ही अब घर पर ला रहे हो न ? देखूँगी रमला कैसी इन्द्र की परी है।"

धीराज भाभी को चिढ़ाने के लोभ को न रोक सका—"रमला को देखने के बाद पता चला कि सब लड़कियाँ मेरी भाभी की तरह बद-सूरत नहीं हुआ करती हैं।"

भाभी झुँझला पड़ी—"मुझे भी तो देख-सुनकर ही लाये थे। यदि ऐसी बदसूरत थी तो मेरे पिता जी की खुशामद क्यों किया करते थे ?"

"वह तो भाई साहब के लिए करना पड़ा था।"

"भाई साहब के लिए ?"

"अरे भाई, मोहनी जो डाल दी थी तुमने उनपर, उनका कहना था—यदि वीणा न मिली तो सन्यासी बन जाऊँगा।"

दोनों हँस पड़े—"अच्छा, देखूँगी कैसी अप्सरा लाते हो तुम। कुल दस ही दिन रह गए हैं शादी के।"

"दस दिन की प्रतीक्षा क्यों करती हो? लो अभी देख लो।" धीराज ने पाकेट से वही फोटो निकाल कर दिया।

बेग तो धीराज ने लौटा दिया था, किन्तु फोटो नहीं दिया था। और फिर लौटाता भी क्यों? वह तो उसी की थी? नहीं थी कैसे? थोड़े ही दिनों के बाद जो उसकी जीवन कहानी होने वाली है, जिस फोटो को लेकर ऐसी कल्पना की फुलवारी बनती जा रही है, ऐसी अनमोल कथा—कहानियाँ रचित हो रही हैं, वह उसकी नहीं तो किसकी थी? और उसके सिवा वह वस्तु दुनियाँ में हो भी किसकी सकती है? विश्व में उस फोटो का अधिकारी एकमात्र वही था इसीलिए अंवांछितः वह फोटो उसी के हाथ में आया था।

रात के सपने में रमला कभी-कभी आती। धीराज के प्रति श्वास में, प्रति पल में, प्रति चिन्ता में वह रहती। न जाने कैसी-कैसी कल्पना विचार किया करता धीराज। वह आएगी, तब सारी कथा उसे सुनायेगा, तब लाज सहित नेत्रों से देख कर रमला कह देगी—"जाओ तुम बड़े खराब हो।" कभी हँस कर लोटने लगेगी। कभी कह देगी "चोर नहीं—नहीं, डाकू तुमने दिन दोपहरी में मेरे फोटो को लूट लिया और फिर भूल से कनखल तक दौड़े।' बेग वापस करने पर भी उससे मिलने को रमला का इन्कार कर देना इत्यादि की शास्ति तो वह रमला को देगा। शास्ति? हाँ, शास्ति ही। किन्तु किस प्रकार की? विचारते हुए धीराज रोमांचित हो उठता।

चित्र को देखते-देखते मुग्ध विस्मय से वीणा कह उठी—"बड़े भाग्यवान् हैं आप। रमला वास्तव में ही सुन्दरी है।"

पान के बीड़े मुँह में भर कर विजय-गर्व से धीराज बाहर चल दिया।

(३)

बिजली के प्रकाश से उज्ज्वल धूप दीप पुष्प सुरभित विवाह-मंडप। धनीगृह का विवाह, वाद्य, पान-भोजन, जन-कोलाहल किसी भी बात की कमी नहीं।

पुरोहित विवाह-मंत्र पढ़ रहे थे। कन्यादान हो चुका था। शुभ दृष्टि का समय उपस्थित था। स्पंदित हृदय से धीराज ने प्रीति, प्रेम तथा अनुरागपूर्ण नेत्रों को उठाया वधू के मुखकेप्रति। और एक क्षण में में ही आर्तनाद के साथ उसका चेतनाहीन शरीर भूमि पर लोट गया।

अव्यवस्था और उद्वेग व्याप्त हो गया चारों ओर डाक्टरों से घर भर गया। डाक्टरों का कहना था—मन में कोई गम्भीर आघात का लगना ही इस बेहोशी का कारण है। भोर की सुखशी वायु में धीराज की चेतना लौटी। पिता से वह बोला—'घर ले चलिए।'

पिता उसे लेकर चल पड़े, वधू को विदा कर दूसरे लोग पीछे आएँगे।

ट्रेन उड़ती-सी चली जा रही थी। लेटा लेटा धीराज बार-बार सिहर रहा था—कुत्सित! उसने देखा है किन्तु ऐसी कुरूप उसने कभी नहीं देखा। काला रंग, फूले गाल, भ्रू शायद हैं ही नहीं, छोटा-छोटी आँखें, विचित्र-सा मुँह। यही है उसकी पसन्द की हुई रानी। आजीवन कुमार रहने की प्रतिज्ञा को नष्ट करने वाली, यही है रमला। धोखा! धोखा! धोखा!

क्रोध आया उसे रमला पर। उसी ने तो उसे ठगने के लिए फोटो बेग में रख छोड़ा था। और जान-बूझ कर उस भीड़ में बेग उसके हाथ में थमा दिया था। सब बातों की जड़ वही है—वही—वही। तभी न पहले रमला ने उससे मुलाकात नहीं की। अच्छी बात है, वह भी देख लेगा रमला को। ब्याह कर कभी भी उसे ग्रहण नहीं कर सकता वह! कुत्सित, कुत्सित, ऐसी कुत्सित!

घर पहुँच कर धीराज चुपचाप पलंग पर लेट गया। उस मुख को देख कर वीणा सिहर उठी—"आपको क्या हो गया?"

"कुछ तो नहीं।" हँसने का व्यर्थ प्रयास कर रहा था धीराज।

"भैया भैया, यह तुम क्या कर आए हो? ऐसी बदसूरत लड़की को देख सुन कर क्यों ब्याहा? सब लोग निन्दा कर रहे हैं।" छोटी बहन दौड़ती हुई पहुंच गई।

जबरन ही हँस कर धीराज कहने लगा, "भाभी को दिखलाने के लिए ही ऐसी स्त्री से मैंने शादी की है।"

"मुझे दिखलाने को?" विस्मय से वीणा ने पूछा।

"हाँ।"

"समझी नहीं, आखिर क्या दिखलाना चाहते हो?"

"यही कुरूप यानी हिन्दुस्तानी के घर में कैसी कुत्सित लड़की हो सकती है, यही तुम्हें दिखलाना था। रमला है न अच्छा उदाहरण?"

"केवल मुझे दिखलाने के लिए तुमने अपनी जिन्दगी बर्बाद की?"

"जिन्दगी बर्बाद! क्या कह रही हो?"

"नहीं तो क्या। रमला जैसी रूपहीना के साथ...?"

बाधा देकर धीराज बोला—"मेरा कुछ नहीं बिगड़ा। उसे सहधर्मिणी की जगह कभी नहीं दे सकूँगा।"

"क्या कह रहे हो? उसका अपराध?"

"अपराध?" धीराज चौंक उठा सच ही तो उसका अपराध क्या है?

"वह तुम्हारी पत्नी है, इस सत्य को कैसे अस्वीकार कर सकते हो?"

इस बार धीराज सिहर उठा, वैसे ही कह उठा—"सत्य?"

"है, सत्य ही। जीवन का जो सत्य है, उसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।" भाभी चल दीं।

❀ ❀ ❀

सुहाग रात की सुहागिन वधू रमला। पति से प्रथम परिचय की वेला में एक कठोर आघात से रह गई वाक्हीन, "ट्रेन पर बेग मेरे

हाथ में तुमने दिया था ?"

वधू पलंग पर सिमटी बैठी थी और जरा दूर खड़ा पूछ रहा था धीराज। सो भी दूसरी ओर मुंह किए।

"वही तो। शायद कुली के धक्के से मेरे हाथ से छूट गया था। मैंने ढूंढ़ा था फिर वह मिला नहीं। किन्तु दूसरे ही दिन घर पर कोई पहुँचा गए थे।"

"हाँ, वह मैं था। किन्तु तुमने उस दिन मेरे सामने आने से इनकार क्यों कर दिया था ?"

वधू ज़रा लज्जित, तथा संकुचित हुई, कुछ इतस्ततः किया फिर बोली—कार्ड आपका मिल गया था किन्तु उस समय तो आप मेरे अपरिचित थे न, अपरिचित पुरुष के सामने मैं जाती ही क्यों ?"

"यदि उस समय तुम पल भर के लिए भी दीख जातीं, तो इतनी बड़ी भूल न होती।" पति के उस स्वर को, उन वचनों को सुन कर रमला विस्मय से साथ ही साथ आहत भी हुई, पूछा धीरे—"भूल कैसी ?"

"भूल—गम्भीर भूल, यदि पल भर के लिए भी सामने आ जाती।"

धीराज की अधूरी बातों के भीतर जो सत्य मूर्त हो उठा उसे समझ सकने के साथ ही साथ रमला का मुख गम्भीर अपमान की वेदना से भर उठा।

धीराज ने फोटो निकाला—"यह किसका है ?"

रहस्य साफ हो गया। सब कुछ जैसे रमला पल भर में ही समझ गई और साथ ही उसका हृदय पत्थर जैसा कठोर हो उठा। उसने कहा—"मेरी मौसी की लड़की रमला है।"

"यह कहाँ पर है ?"

"एक वर्ष पहले मर चुकी है।" और फिर जैसे रमला परहास कर उठी वज्र गम्भीर स्वर से—"आप एक कल्पना प्रसूत अलका के पीछे भटकते फिरे हैं। तभी ऐसी भूल पर भूल की सृष्टि करते चले जा

रहे हैं ।"

"यह क्या ! भूल की सृष्टि, क्या कह रही हो ?"

उत्तेजित, अपमानित रमला कह चलीं—"आप असत्य के उपासक हैं । तभी सत्य के रूप को देख कर इस प्रकार विचलित हो उठे हैं । और कुछ पूछना है ? मुझे नींद आ रही है ।" रमला उठ कर चल दी ।

(४)

गम्भीर रात, महावर रंजी भी सुहाग रात । अकेला धीराज बैठा था पलंग पर मस्तक नत किए चिन्ता में ओत-प्रोत ।

भाभी की बातें कानों में ध्वनित होतीं—सत्य सत्य होकर ही रहता है । रमला के वचन नसों में झंकृत होते । 'आप असत्य के उपासक हैं तभी सत्य को देख कर इस प्रकार उत्तेजित हो उठे ।'

उसकी चिन्ता आगे बढ़ती हुई जिस स्थान पर पहुँचा उसके बाद एक हाहाकार के सिवा कुछ भी न बच रहा उसके लिए ! झूठ कहाँ ? वास्तविक ही तो है । वह एक कल्पना के पीछे दौड़ता फिरा । फोटो था एक उसके निकट, बस इतना ही । वह फोटो, एक मृत स्त्री का फोटो । बस सामान था, एक मृत नारी का चित्र और उसके पीछे अलोक कल्पना । ठीक ही तो कहा है रमला ने, वह मूर्त सत्य का सामना कहाँ कर सका ?

जब विवाहित बहू, जीवन में परम सत्य के रूप में परिणीता पत्नी रमला, सहधर्मिणी उसके सामने आई, तब उसने किया क्या ? आँखें बन्द करके भाग निकला ।

क्यों ? धीराज के मन में प्रश्न उठा और उत्तर भी निकल आया उस मन के कोने से—क्यों कि उस कुत्सित आकृति को वह सहन नहीं कर पा रहा था । वरन देख भी नहीं सक रहा था । जब नग्न सत्य सामने आकर खड़ा हो गया, तब कापुरुष की भाँति वह दूर भाग निकला ।

दोषी तो वह स्वयं ही है न । तब अपनी ही कल्पना की देन को,

सत्य को देख कर भागना भी क्या और किस लिए ?

रात्रि के शेष और उषा-प्रकाश की सन्धि बेला में रमला के रुद्ध द्वार पर आघात हुआ। द्वार खोल कर रमला सामने खड़ी हो गयी अपने कुरूप मुख को पूर्णतः आवरण मुक्त करके। धीराज की आँखें उस मुखरे से हट आईं। धीरे से चल कर वह खुली खिड़की के सामने खड़ा हो गया। नहीं जानता था धीराज कि मनुष्य की कल्पना की देन कभी ऐसी समस्यापूर्ण, ऐसी कुत्सित भी हुआ करती है।

धीराज ने उस दिन प्रतिज्ञा की कि चाहे कुछ भी हो, इस देन को साहसी की भाँति, सन्तोष के साथ दोनों हाथ पसार कर उठा लेगा।

तब तीसरी बार चल पड़ा धीराज रमला के रुद्ध द्वार की ओर।

अफीम का फूल

झुकी अँधेरी में बादशाह हलवाई का मन्दिर जैसे डूब रहा था। और वे जुगनू के दीवट घन वन में अलैया के लौ से नहीं तो नागमणि की शान्त आभा से थे ही। दुनिया जैसे मणि खचित काली साड़ी पहने थी।

रात की नींद संसार पर छायी थी। किन्तु अनादि के नेत्र में हलकी नींद भी नहीं भर उठी थी। और उस अन्धकार में जैसे खिचता हुआ उसी के समाने के लिये भर-सा उठा। कुटीर से निकल कर वह बाहर खड़ा हो गया, अंधेरी में अपनी सत्ता को समाता हुआ।

और यह अन्धकार—वृक्ष के नीचे बैठकर सोचने लगा वह—इस हृदय के भीतर झुकी अँधेरी से क्या कम है।

और यह संसार? क्यों और किस लिये यह मनुष्य की स्वाधीन चिन्ता में बाधा देने को तुल उठता है? कौनसा अधिकार है इसे?

यदि इसी की गोद में बैठे, इसी के जयगान में किसी कवि की लेखनी भर उठे, यदि वह इसी की रूप रेखा को लेखनी द्वारा मूर्त करना चाहे, तो यह क्यों उस लेखनी को चुरमुरा कर तोड़ देता है? और उस बोझ को—जिसे कि कवि एक बोझ ही समझे, तो ऐसे एक

बोझ को, क्यों वह अवरन ढोने के लिए उसे बाध्य करना चाहता है ?

नहीं तो क्या, अभी उस दिन की बात है, सारा घर मेरा विरोधी बन बैठा था। कविता की पोथियों के टुकड़े टुकड़े कर फेंक दिये गये थे।

और वह ? नहीं—नहीं—कुछ नहीं, कुछ नहीं, मैं संन्यासी, मुझे ऐसी भावना सोहती नहा।

संन्यासी-? यह गेरूआ वस्त्र, यह कम्बल, और यह बैरागी मन, क्या संन्यास के लिए इतना ही कम है ?

वर्ष भर हो गया घर छोड़े। शहरों को देखता फिरता हूँ, मजे में दिन कट जाया करते है। और वह ? वह तो मेरे जीवन की साथिन है न।

यह काली रात ? वैसी ही तो है—जैसे कि दुनिया का जीवन जागकर बैठ गया है दुनिया के बीच में।

जबलपुर शहर के एक ओर पहाड़ियों से घिरा बादशाह हलवाई का मन्दिर। झाडी झुरमुट, लता-गुल्मों में घिरा वह मंदिर और उसमें मध्यरात्रि का एकाकीपन जैसे समिट रहा हो। पर्वत पर कई सौष्ठव-युक्त मंदिर, पत्थर की सीढ़ियाँ नीचे तक उतरी हुई। नीचे छोटी बावड़ी-। मंदिर के एक ओर छोटा सा मठ, कुछ थोड़े से संन्यासी, संन्यासिनी वहाँ वास करतीं। सो उसी आवास में उस दिन प्रातःकाल पहुँच गया था, गृह-त्यागी संन्यासी अनादिनाथ।

उस रात की अँधेरी में अनादि का कविहृदय जब मतवाला बन बैठा, और जिसपल में वह अन्धकार का रूप लेखनी पर आँकना चाहने लगा, ठीक उसी पल में नारी-कंठ की गीतध्वनि ने उसे मुग्ध, आत्म-विस्मृत कर दिया।

अनादि अपनी सत्ता को बिसार कर गान सुनने लगा। पहाड़ी पर बैठी अँधेरी, और जैसे कि उस अँधेरी के आँचल से गान झरने की भांति झड़ पड़ने लगा।

अनादि को लगा-ऐसा गान उसने कभी न सुना था, न कभी

सुनने की आशा, कल्पना ही की थी। लगने लगा उसे दुनिया से परिचय करने की बेला ही में गायिका तिल-तिलकर अपनी सत्ता को खो बैठी, या यों कहो कि अपने को किसी एक स्थान में लुटा बैठी थी। अपने लुटाने के नशे में मस्त कब वह रिक्त, सर्व-शान्त होकर लुट गई, सो वह स्वयं ही नहीं जान सकी, शायद आजतक भी नहीं।

अनादि मन, प्राण और सर्वेन्द्रिय से सुनने लगा—"पिउ पिउ रटत पपीहरा बोले, और कोयलिया सगुन देत मोहे" बस, इतना ही। इसके बाद गायिका का स्वर सहसा स्तब्ध होगया।

अनादि को लगा उस असमाप्त गान में गायिका ने जैसे कहने-सुनने योग्य सब कुछ नहीं कहा, बचाकर यत्न से जैसे कि बहुत कुछ को रख दिया, रख छोड़ा है किसी एक के लिए; जैसे कि असमाप्त गान में उसने जीवन के परिचय, इतिहास को छिपा रखा है। उस स्वर-लहरी को सुनने के बाद जैसे श्रोता का मन आँसू से भीग उठता है और तब अन्त तक जानने सुनने के लिए सुनने वाले के मन में एक आकुल जिज्ञासा बनी रहती है। क्रोध आ जाता है उस गायिका के प्रति यदि पूरा गाना नहीं था, तो उसने इतना गाया भी क्यों?

अनादि का जी जाने कैसी एक अस्वच्छन्दता से भर उठा। आई हुई कविता बिसर गई। वह उठा। फिर वैसे ही जाकर कुटिया में पड़ रहा। नींद, शायद ही आई हो।

(२)

अनिद्रा-वश रक्ताभ नेत्र लिए प्रातःकाल अनादि जब ध्यान—पूजा शेषकर छोटे से पत्थर पर बैठ गया तब शीत की मीठी धूप उसके सारे अंग में फैल गई। रात के गान का सुर तब भी उसके कानों में भरा हुआ था। हाँ, वह जरूर इसी पहाड़ी में बैठी थी कल रात, उसने विचार किया। फिर न जाने क्या-क्या सोचता रहा।

"जल पान किये बिना ही चले आये?" उस सुमधुर स्वर से अनादि चौंका। देखा श्यामाङ्गी तरुणा सामने खड़ी है, केले के पत्ते पर कुछ फल लिए।

इसी संन्यासिनी सावित्री का अतिथि बना था वह कल प्रातःकाल से। और इसी की कर्म-कुशलता, विचार-शक्ति, तथा धीर गम्भीर स्वभाव से इस अल्पकाल में ही वह प्रभावित हो उठा था। सम्भ्रम पूर्वक उसने फल हाथ में उठा लिये—"आप यहाँ तक क्यों दौड़ी आईं? मैं स्वयं ही अभी आ रहा था।"

"कोई बात नहीं, आप मेरे अतिथि हैं। अतिथि, नारायण तुल्य अतिथि, और फिर सेवा करना तो मनुष्य-मात्र का धर्म है।"

"मुझे विस्मय है सावित्री देवी!"

"किस बात पर महाशय?" स्मित हास्य सहित पूछा उसने।

"आपकी कर्म-कुशलता पर। इतने बड़े मठ को, इस जनसंख्या को किस सुचारु रूप से, किस सुनियम से आप चलाती हैं!" वह शांत हँसी हँसती बोली—"ज्यादा तो कुछ भी नहीं कर रही हूं।"

"क्या आप बहुत दिन से यहाँ हैं?" अनादि का स्वर कौतुक से भर उठा।

"शायद जन्मावधि।"

"इस बादशाह हलवाई के मन्दिर में!"

"हाँ!"

"आपके और—"

"तो यहाँ पर आपको अच्छा लग रहा है।"

अनादि को लगा जैसे कि जानबूझ कर वह नारी बात को टाल गई।

अनमना हो अनादि ने पूछा—"अच्छा, इस मंदिर को क्या हलवाइयों के किसी बादशाह ने बनाया था?"

प्रश्न सुनकर सावित्री खिलखिलाकर हँस पड़ी। उस हँसी को देखकर अनादि विस्मय से वाक्हीन हो रहा—तो इस नारी ने उस गम्भीर आवरण के भीतर ऐसी एक उच्छ्रुल हँसी को संभालकर रखा ही कैसे है!

लगने लगा अनादि को—ऐसी जाति की हँसी ऐसे गम्भीर आवरण

के भीतर सोहती नहीं—बिलकुल नहीं। इस देवता सी सौम्य आकृति में शिशु-जैसी यह उच्छृङ्खल हँसी! अशोभन के बाद कुछ और भी है। बोली सावित्री—बहुत धीरे—भ्रमर गुञ्जार की भांति—"शायद नहीं। कदाचित् किसी हलवाई का नाम बादशाह रहा होगा और तब किसी एक दिन उसके हृदय का अर्घ हृदय में न समा सका होगा, तब पेट काट कर पैसा पैसा बचाकर उसने कुछ जोड़ लिया होगा, फिर पूज्य मूर्ति की स्थापना कर, एकान्त में यह मन्दिर बना लिया होगा। स्वयं तब प्रकृति के राज्य में प्रकृति का सम्बद्ध बना उपास्य के सामने ध्यान रमाकर बैठ गया होगा, और फिर उसी ध्यान में रमा-रमा किसी एक दिन समाधिस्थ भी हो गया होगा। बस इतना ही।"

और तब वह सावित्री धीरे-धीरे चल दी मठ की ओर। अनादि जाने कब तक हतवाक् बैठा रह गया। जब उसकी चेतना लौटी, तब धूप से वह स्नान कर उठा था। और पत्ते पर के फल धूल में लोट रहे थे। वह उस ओर बिना देखे, अधीर पद से, मठ की ओर बढ़ चला।

सप्तमी का चाँद मध्यरात्रि के गाम्भीर्य में कब डूब मरा था, सो अनादि को कुछ भी सुध नहीं। रातभर का जागा वह कब कुटिया की कम्बल-शय्या पर लेट रहा था और कब उसकी खुली आँखों में नींद समा रही थी, सो भी उसे खबर नहीं।

एक सिहरन और फिर सहसा वह नींद से जागकर उठ बैठा। ऐसा लगा कि एक मधुर ध्वनि में भूचर, खेचर सब कुछ प्लावित हो रहा है। गा रही थी यहीं छिपकर बैठी गत रात्रि की वही गायिका, वही अपरिचित, तरुणारमणी पुकार रही थी वह जैसे किसी को। अधीर थी वह उतावली-सी जैसे किसी से मिलन-बेला की निकटता से—'पिउ-पिउ रटत पपीहरा बोले, और कोयलिया सगुन देत मोहे—"

उस अधूरे गान को गायिका दोहरा-तेहरा कर कितने ही बार गाने लगी।

जब अधूरेपन में गान समाप्त होने को हुआ, तब अस्थिर चरण से

अनादि उस ओर भाग निकला जिधर से गीत ध्वनि आरही थी। और शायद पहुँचा भी वह उस स्थान तक, पर गान तब शेष हो चुका था। अनादि ने दियासलाई जलाई। उस पल भर के प्रकाश में उसके विस्मय प्रोज्वल नेत्रों ने जिस नारी को देखा उसे देखकर कुछ कह सकना अनादि के लिए एक प्रकार असम्भव सा ही हो गया।

एक उन्मादिनी की भांति सावित्री—वही दिन की बेला की सावित्री, धीर, स्थिर सौम्य कान्ति वही सावित्री उस रात्रि के अन्धकार में आँखें फाड़-फाड़ कर न जानें क्या देख रही थी। न जाने किसे ढूँढ़ रही थी।

"सावित्री देवी" पुकारा अनादि ने।

"कवि अनादि।" नारी—जैसे परिहास से मचल पड़ी।

"पूरा करो उस गान को!"

"नहीं, नहीं!"—करुणा, व्यथा से जैसे वह रो-रो कर कह उठी "नही-नही।"

"क्यों नहीं?"

वह गरज उठी—"क्यों नहीं? और नहीं भी क्यों नहीं? दुनिया को सावित्री ने सब कुछ तो दे डाला, धन, मन, यौवन, स्वाधीन इच्छा। बच रहा है यह गान—बस गान ही। केवल उसका वह शेष पद—"

"सो किस के लिए? अरे सावित्री, कहो-कहो, जो है, रख छोड़ा है तुमने सो किस लिए?"

"केवल उनके लिए। बस उतना ही। वह अन्त का पद केवल रख छोड़ा है उनके लिए, उन्हें सुनाऊँगी—उन्हें ही।"

सावित्री पुनः गाने लगी और गाती हुई उस अन्धकार में न जाने कहाँ विलीन हो गई।

(३)

उषा के पलने पर सूर्य भगवान् आन विराजे। स्वर्ण-सम शिखा की चञ्चलता तब समाहित हो चुकी। विश्व नित्यकर्म में व्यस्त। और

तब अनादि कम्बल पर नींद से जाग कर उठ बैठा।

सिरहाने खड़ी सावित्री करुणा से पुकारने लगी—

"आप का जी खराब तो नहीं है।"

"मैं?"—वह सहम कर उठ बैठा।

गत रात्रि की बात उसे याद आ गई और तब उत्तर देने के परिवर्त में निविड विस्मय से वह सावित्री को देखने लगा।

"क्या है!" विस्मय से सावित्री ने पूछा।

"क्या तुम कल रात की वही उन्मादिनी सावित्री हो?"

सावित्री सिहरी—"कल रात की उन्मादिनी?" जैसे वह अपने आप कह उठी। वह चंचल स्वर से बोली—"आज आप स्नान न करना। इस वक्त यहां इन्फ्लूएन्जा हो रहा है। चाय पी लीजिए, भेज दूँगी।" इसके बाद वह लौट पड़ी। और तब एक जंगली हवा के झोखे की तरह अनादि उसका पथ-रोध कर खड़ा हो गया—"कहती जाओ सावित्री, रात की वह और दिन की यह सावित्री एक ही हैं या भिन्न?"

नारी ने स्थिर नेत्र से उसे देखा, जरा सा मुसकराई—"परन्तु दिन की यह सावित्री रात की उस सावित्री की खबर जाने भी तो जाने कैसे? मुझे देर हो रही है।" और फिर वह शान्त गति से चल दी।

विस्मय से अनादि उस ओर देखता ही रह गया।

अर्द्धरात्रि से पूर्व ही अनादि उसी स्थान पर पहुँच गया। और तब कुछ अर्द्धरात्रि में, अर्द्ध उन्मादिनी वह नारी झूम-झूम कर गाने में लग गई—"पिउ पिउ रटत पपीहरा बोले, और कोयलिया सगुन देत मोहे—" भाव-विभोर अनादि सुनने लगा। शायद वह सुनता ही रह जाता यदि सामने खड़ी सावित्री खिलखिला न पड़ती—

"कविता लिखोगे कवि, इस गान पर?"

एक सम्मोहित की भाँति अनादि ने सिर हिला दिया। वह हंसी, वही उन्माद जैसी हंसी "नहीं लिख सकोगे?"

"नहीं, सो क्यों?"

"कविता पर कविता—लिखोगे भी कैसे ?"

"कैसी पहेली है यह ?"

"नहीं ! केवल कविता, वह कवि और मैं उसकी कविता, चोर पहुँचा था उस कवि की कविता की चोरी करने। और तब—"सहसा वह सामने अड़ कर खड़ी हो गई "आदमी का ताजा खून देखा है तुमने कवि ?"

भीत—त्रस्त अनादि ने सिर हिलाया।

"नहीं देखा ? और अद्‌भुत साहसी को देखा है तुमने ? सो भी नहीं देखा ? और जेल की अँधेरी कोठरी ? सो भी नहीं देखी ? और तुम तुम कवि हो ! कभी तुम्हारी कविता को पढ़ कर शत-सहस्र गज दूर बैठी कोई नारी बन गई थी उसकी पुजारिन ? वह भी नहीं ? और तुम कवि हो ! उस कविता पर कभी किसी तपस्विनी ने अपने को न्योछावर भी कर दिया था ? और कवि तुम उस पूजा को अस्वीकार भी न कर सके थे। ऐसा भी नहीं ? सो वही एक ऐसे तुम हो कवि ! जाओ, हटो, हट जाओ ?"

"और ?" आवेश-जड़ित स्वर से पूछा अनादि ने। "और ?"—सावित्री अपनी धुन में कह चली—"और ऐसी ही काली रात में दस हजार गज दूर से दौड़े आये थे अपनी उस कविता की मुखर वानी को सुनने के लिए ? और प्रथम परिचय के सुख में एक आततायी के हाथ से उस कविता को बचाने के लिए कभी सीना भी पसार दिया था तुमने ? और कभी उसी कविता की सम्मान-रक्षा के लिए वर्ष के बाद वर्ष जेल की अंधेरी कोठरी के भीतर जहां कि दुनिया का मुट्ठी भर उजेला भी पहुँच न पावे, जहां एक पखेरू भी बोल न सके, एक पत्ता भी डोल न सके, वहां वैसी एक जगह में अपने जीवन की उमंगों को बन्द कर रख सके हो तुम ? सो भी नहीं ! और एक ऐसे ही तुम बने हो कवि ! जाओ, हट जाओ मेरी आंखों के सामने से !!

इसके बाद सावित्री जैसे अपने में खोई सी गा उठी—"पिउ पिउ रटत पपीहरा बोले।"

. ..

तान सुनते सुनते अनादि जैसे अपने को विसार बैठा। "पूरा करो इस गान को सावित्री, मैं पागल हो जाऊँगा।"

सावित्री लौट कर खड़ी हो गई, उसे घूरने लगी। फिर सहसा सिर हिलाती हुई क्रन्दन-जड़ित स्वर से कह उठी-"नहीं-नहीं-नहीं! आधा गान मैं उन्हें सुनाऊंगी, उन्हें, उन्हें ही।" इसके बाद वह पर्वतकन्दरों में न जाने कहाँ पर समा सी रही।

उस अन्धकार में अनादि वैसा ही खड़ा रह गया वैसा ही जड़वत्, और और, यदि विश्व के पथ पर कोई उसे भी अपने गान का शेषांश सुनाने के लिए उसकी अपेक्षा में बैठी हो...

❀ ❀ ❀

अनादि घर लौट आया है। काम-काज के बीच में, कविता के अधूरेपन में उसका मन कभी उसी बादशाह हलवाई के मन्दिर में एक आधी रात की छाया में भटक पड़ता है और तब पल भर के लिए वह स्तब्ध हो जाता है।

चम्मच भर आंसू

फिर वह भी-तो एक दिन था, रात्रि नहीं, प्रातः नहीं, मध्याह्न नहीं, सन्धि प्रकाश की बेला भी नहीं। गत-आगत भी नहीं, था-तो वह भी एक-दिन, सीधा-सादा, समूचा, नित-प्रतिदिन की तरह था ही तो वह एक दिन।

था-राजपूताने का तस रक्त जवासादिन-वही। जल वायु में वीररस की एक अपूर्व मादकता। मादकता का एक छन्द-सुछन्द, बस इतना ही।

उसी एक दिन के क्रोड़ में बैठे महाराज भीमसिंह ने सौम्य नेत्र उठाये, सर्दार चन्दन-राव के प्रति। "आज्ञा महाराज?" प्रौढ़ चंद्र उठ कर खड़ा हो गया। सभासद सेनापति आदि के नेत्र, कर्ण में एक उत्सुकता व्याप गई। राज्य-आज्ञा के लिये सभा उत्कर्ण हुई। और तब-उसके बाद-पांच मिनिट व्यापी मौनता-मानो एक समूचा युग ही सा उपस्थित हो गया।

"माड़वार राज्य के पत्र का उत्तर देने का भार आज मैं इसी सभा पर सौंपता हूं।"

थोड़ी देर के बाद मौनता भंग अवश्य हुई, किन्तु उस सम्मानित तथा दायित्व पूर्ण आदेश के नीचे सभा गंभीर स्तब्धता में भर उठी।

दूसरे पल-प्रधान अमात्य के स्वर में रक्त की पिपासा चू सी पड़ी।

—"उस अपमान जनक पत्र का उत्तर देना मेवाड़ जानता है महाराज! वह कमजोर हाथों से तलवार नहीं थामता।"

सेनानायक की असि में झंकार उठी—"विशुद्ध राना वंश की कुमारी कृष्णा माड़वार की अधीश्वरी नहीं बन सकती है। यदि माड़वार में हिंस्र व्याघ्र हैं, तो मेवाड़ में सिंहों की कमी नहीं।" वचन समाप्ति के साथ ही-साथ-सहस्र तलवारियों में झनकार उठी।

राना ने हर्षोत्फुल्लनेत्र उठाये, फिर देखते देखते उन नेत्रों में विषाद की छाया व्याप गई "मेवाड़ के गर्वस्वरूप, और राजपूतों के श्लाघा स्वरूप वीरगण! इस बात को मैं जानता था, विश्वास-विश्वास करता हूँ—"

राज-वचन समाप्ति के पूर्व ही सरदार चन्दन राव उठ कर खड़ा हो गया—"महाराज, विश्वास! फिर भी वही विश्वास उस विश्वासघातक क्षत्रिय नाम का कलंक अजित, जिसे कि महाराज विश्वास का ध्रुवतारा बनाये हुए थे उसने—"

राना शान्त हँसे—"तो क्या वीरश्रेष्ठ चन्दनराव कहना चाहते हैं कि एक शिशु की न समझ और शायद विश्वासघात ही से आज मेवाड़ का राना विश्व ही पर अविश्वास कर बैठे? किन्तु-किन्तु चन्दनराव, उसके बाद? संसार को अविश्वास करने के बाद भीमसिंह जीवित रह भी कैसे सकेगा?"

"महाराज—"

'हां' और अविश्वास के अंतिम स्वर में राना को मिलेगा क्या, सो भी सोच लिया है न तुमने? नहीं? सीधी-साफ बात है। दुनिया पर अविश्वास करने वाला-अपने पर भी विश्वास नहीं कर सकता। नहीं-कैसे? संदेह कैसा? अविश्वास का स्वभाव ही न यही है?"

चन्दनराव ने मस्तक नत कर लिया। धीरे धीरे बोला—

"किन्तु अजित का अपराधी—पिता—"

"और चन्दनराव, उस बात को यदि मैं सुनना-अब सुनना न चाहूँ तो ?"

"और यदि दास अपना अंतिम निवेदन राणा के चरणों में निवेदन करना चाहे तो ?"

अन्तिम निवेदन ? भीम चकित त्रस्त हुए। और पल पल में उस सौम्य मुख पर एक विचित्र सौम्य रेखा अंकित हो गई—

"अवश्य उस निवेदन के अधिकारी हैं चन्दनराव, परन्तु इस युद्ध के पीछे। माड़वार से मेवाड़ का युद्ध अवश्यम्भावी है। और उस युद्ध में सेना नायक चन्दनराव ही हो सकते हैं। सो भी अनिश्चित नहीं है जाओ वीर, युद्ध की तैयारी करो। देश की स्वाधीनता तुम पर निर्भर है।"

विस्मय-विमूढ़ सभा के कुछ समझ सकने से पहिले चन्दनराव ने जैसे उस सम्मान, विश्वास को सिर नवाकर वर लिया—

"दास अनुगृहीत हुआ। देश की स्वाधीनता और महाराज की रक्षा के लिए चन्दनराव रक्त की अन्तिम बूंद तक भेंट करेगा।" इसके बाद राना के पीछे पीछे चन्दनराव ने भी मौन गम्भीर मुख से सभा का त्याग किया।

सभा एक ही सी हतवाक्, अचल-विस्मित रही आई। उस समय ? उस समय कदाचित् सभा के प्रत्येक के मन में वही—एक प्रश्न रहा है—भूतपूर्व सेनानायक-विश्वासघातक अजित—वही अजित जिसकी प्ररोचना से राठौर राज आज मेवाड़ का शत्रु बन रहा है। जिस राजपूत कलंक अजित के लालसा पूर्ण नेत्र कुमारी कृष्णा के प्रति अवद्ध हैं, और जिस वार्ता को जानने के बाद भी—क्षमाशील राणा ने उसके सब अपराधों को क्षमा कर दिया था, परिणाम स्वरूप जिसने मारवाड़ाधिपति को राणा के विरुद्ध खड़ा कर दिया, उसी नर-पशु अजित के पिता को ऐसे अवसर पर इस दायित्व-पूर्ण पद को सौंपना-राणा का कोई कौशल है या निरी मूर्खता ?

(२)

राज उद्यान में वह शीत की रूपैली बेला, आम के हरे पत्तों पर सूर्य किरण नाच रही थी। आम मुकुल की धीमी गंध पर सहस्रों मधु-मक्खियां लोभातुर थीं। और लटक रहा था आम की मोटी डाली पर रेशम का वह पचरंगा झूला। उस झूले पर लोभातुर थीं, मधुमक्खियां नहीं किन्तु अनेक रूप सी तरुणी।

झूले पर उपविष्ट चम्पक वरना नारी को कई तरुणी झुला रहीं थीं, कई गुनगुनाकर गा रही थीं, "भानुमती कुमारी आज भी न आवेंगी ?" पूछा, उस झूले पर उपविष्ट राजकन्या कृष्णा की प्रधान सहचरी-गोदावरी ने।

और तब एक ही साथ सबके नेत्र राजप्रासाद की ओर उठ गये, वैसे ही-निराशा से लौटे और दीर्घ-श्वास के साथ झुक पड़े।

"वह अब न आवेंगी।" कहा भानुमती ने।

"यह उद्यान उस दिन तक हँसी-गान में कैसा मस्त रहा करता था। राजप्रासाद की श्री-सम्पद सुरसुंदरी-कृष्णा की हंसी की-फुलझरी से प्रासाद से लेकर राजपथ तक को सजीव किए रहता। न जाने किस देवता, व दानव के अभिशाप से सब कुछ का अंत हो गया। कौन जानता था, कुमारी के बचपन के खेल का साथी अजित ही एक दिन उसके प्राण का ग्राहक बन बैठेगा। ग्राहक नहीं तो क्या ? तुझे याद है पन्ना, उस दिन की बात, बोली—एक श्यामाङ्गी तरुणी।

वह भी कोई भूलने की बात है ? मुझ से ज्यादा कौन जानता है उस बात को ? उसी दिन तो महाराज जयसिंह से कुमारी की शादी पक्की हुई थी। घर घर खुशी मनाई जा रही थी। हम सब उस खुशी में मस्त थीं। वही तो है झरना, वहीं बैठी थी कृष्णा। मुझे दिल्लगी सूझी, जयसिंह का चित्र लाकर उसके सामने रख दिया। बोली-देखो, यह, कौन है ?—कुमारी ने अवहेलना से उसे देखा, बोली-होगा कोई। मैंने कहा-जरा अच्छी तरह से देख लो, यही—हैं महाराज जयसिंह। तब मैं उस मौलसिरी की आड़ में जाकर छिप रही कि देखूं कुमारी क्या

करती है। कुमारी चित्र पर झुकी ही थी कि वह मेवाड़ का शनि अजित पहुँच गया। चित्र पर उसकी आंख पड़ी कि आग जैसा जल पड़ा, और जिस कालकूट को उसने इतने दिनों तक मन में छिपा रखा था, उस दिन वह-उगल डाला। किन्तु रमा—उस प्रेम निवेदन के बदले किस भद्रता, सभ्यता के साथ कृष्णा ने अपने महत् अंतःकरण का परिचय दिया, सो-भी एक देखने-सीखने की बात थी। परन्तु पुरुष ने उसका कोई मूल्य ही नहीं आँका, वरन प्रस्ताव किया कि कृष्णा उसके साथ राज्य से निकल भागे।" "तब" पूछा रमा ने। "कहने लगा अजित-पीछे—वह इसी राज्य को जीत कर यहां का राजा बन बैठेगा। तब कृष्णा क्रुद्ध सिंहनी की भांति गरज उठी, बोली—"जाओ, राज उद्यान की वायु को दूषित मत करो।" गोदावरी के नेत्र आर्द्र हुए—तभी तक यदि वह कापुरुष शान्त रहता तो भी कोई बात न थी। अन्त तक उस ने मारवाड़ को भी मेवाड़ का दुश्मन बना दिया। कृष्णा का स्वर्गीय रूप ही आजकाल हो रहा है।" सदा हँसमुखी-कृष्णा, आज………" सहसा सबों की दृष्टि एक ही साथ उठीं—कुमारी-आईं।

उस अप्सरीसम रूप प्रभा से उद्यान आलोकित हो उठा। तरु-पल्लव सी कोमलाङ्गी तरुणी कृष्णा विषाद—खिन्न मुख से आकर उपस्थित हुई।

"कुमारी" सखियाँ उसे घेर कर खड़ी हो गईं। हँसने का व्यर्थ प्रयास करती हुई कृष्णा पलने पर बैठ गई।

'गाओ सखी, मैं भी गाऊँगी।" वह बोली।

विस्मय से एक ने दूसरी का मुँह देखा।

सो उस विस्मय की भीड़ में दबी दबी सी कृष्णा बोली—"गाओ सखी, कौन जाने, आगे शायद यह अवसर न आवे। गाओ सखी, जी खोलकर, जी भर कर गाओ। वैसा गाना गाओ जो कि, जीवन में निराशा को, व्यथा को आने न देवे, जो कि खुशी में बसी-स्वयं ही एक खुशी बन बैठे। गाओ सखी, यह देर कैसी?"

और तब झूमझूम कर सब सखियाँ गाने लगीं। और कृष्णा? उस संगीत के झमेले से जैसे उसका स्वर रो रोकर विदा माँगने लगा।

गान के मध्य में सहसा गोदावरी कह उठी—"चुप-चुप-चुप रहो राजकन्या कृष्णा, मैं इस रोदन को सुन नहीं सकती, सह नहीं सकती हूँ। यह रोदन राजकन्या को नहीं सोहता। और न यह है उसके लिए। रोदन है हम सखियों के लिए।"

कृष्णा खिलखिला पड़ी—"और राजकन्या के लिये?"

"निरी खुशी"

कृष्णा हँसी—वही एक रहस्य भरी हँसी।

मेवाड़ के सीमाप्रांत का प्राङ्गण, रक्त की प्यास, दोनों ओर देश रक्षा का प्रश्न, और प्रान्त के इस ओर तथा उस ओर रणउन्मत्त सैनिक, सो मेवाड़ और मारवाड़ में युद्ध चल रहा था।

मारवाड़ का सेनाध्यक्ष युवक अजित वीर हुँकार से मस्त हो रहा था। मेवाड़ का सेनानायक वृद्ध वीर केसरी चन्दन राव केसरी से गम्भीर थे। और गंभीरता में एक ही—निनाद था—"मारो, मारो, कापुरुषों को मारो।"

दोनों ओर एक सी तलवारें चलतीं, अश्व उछलते और राजपूतों के नेत्रों में युद्ध का नशा प्राणवन्त होता।

ठीक जिस पल में मेवाड़ मारवाड़ पर जय पाने को हुआ, उसी समय पूर्व प्रान्त से नवीन सैनिकों ने पहुँचकर उस पराजित-प्राय मारवाड़ सेनाओं की नसोंमें नवीन रक्त बहा दिया। उन आगत सैनिकोंकोदेखकर उनके लुप्तप्राय साहस, सौर्य लौट आये। रणपरान्मुख सैन्य लौटकर खड़े हो गये। मेवाड़ सेनाओं के नेत्र में निराशा व्याप गई। पल पल में मेवाड़ सेना की हत आहत की संख्या बढ़ने लगी।

और तब चन्दनराव के शिथिल प्रायः प्रौढ़ शिरा—उपशिराओं में युवक का रक्त भर-सा उठा। चुने हुए वीरों को लेकर व्यूह रचना कर अग्रगामी वह जैसे माड़वार सेना पर झम्प प्रदान कर पड़ा। उस वीरता के आगे पराजय निश्चित थी, सो होकर रही। पल भर में युद्ध

की जय-लक्ष्मी मेवाड़ की ओर मुड़ी।

अजित ने अपनी सेना को ललकारा। और फिर अश्व उछालता आगे को बढ़ चला।

अब युद्ध था न सेना—सेना में, न पक्ष—विपक्ष में,। वह युद्ध चल रहा है—पिता—पुत्र में—एकदम आमने सामने।

एक बार शायद पिता ने पुत्र को और पुत्र ने पिता को देखा भी। एक बार शायद अजित ने पिता की चरण बन्दना पुकारी। तभी—'पिता!' तब एक बार शायद चन्दनराव का हाथ कम्पित हुआ भी, हृदय में आपस के स्नेह ने दबकर शायद झाँका भी।

सो चन्दनराव ने दृढ़कर से तलवार थामी, तलवार उठी, चमकी, पिता की—तलवार से टकरा गई, सो तीसरे बार वह अजित के हृदय को पार भी कर गई।

पार्श्ववर्ती सर्दार रत्न सिहर उठा—"यह क्या किया चन्दनराव ?"

"मात्र कर्तव्य। देश-द्रोही विश्वास घातक का रक्त चूसकर चन्दन राव की तलवार ने उचित कार्य ही किया। बात इतनी ही है रतन।" कहा शान्त स्वर से चन्दनराव ने और उन्मुक्त तलवार हाथ से उस कर्णधार हीन सेना पर टूट पड़ी।

पल भर में मेवाड़ सेना ने माड़वार सेना पर जय पा ली। मेवाड़-राज के जय जयकार से गगन पूर्ण हुआ। सम्वाद भीमसिंह तक पहुँचा। विपुल आनन्द से नगर सज्जित होने लगा। आम्र पल्लव, मङ्गलघट, प्रतिद्वार पर शोभित हुए और मङ्गलाचार के मध्य से विजयी वीर चन्दनराव मेवाड़ में पहुँचा।

राना वीर ने जयी वीर को अपनी तलवार भेंट की। एक दूसरे के सामने खड़े हो गये। परन्तु न जाने क्यों एक दूसरे के प्रति पूर्ण दृष्टि से न देख सके।

राजपूताने के मरुस्थल को लाँघता हुआ वह अन्धकार युद्ध के उस रक्त नील प्राङ्गण में पुञ्जीभूत हो रहा था। वह क्षीण प्रकाश जो कि चलता फिरता सा प्रतीत हो रहा था, वह क्षीण प्रकाश उस राशि-

राशि अन्धकार में जैसे तारका सम दीप्तमान था।

एक व्यक्ति दीपक हाथ में लिये हत आहत मनुष्यों पर झुक-झुक कर न जाने किस मृत अथवा जीवित शव के अनुसन्धान में उस अर्द्धरात्रि के अन्धकार को मथित करता युद्ध-प्राङ्गण में फिर रहा था।

सहसा एक शव के निकट वह बैठ गया, और वैसे ही उसके हाथ उठे, फिर उर्ध्वमुख स्थिर हो रहे। घुटना टेककर वह व्यक्ति उर्ध्वमुख किये बैठकर-जैसे कुछ प्रार्थना करने लगा। शायद वह मृत व्यक्ति की आत्मा की मुक्ति के लिये वह करुण आवेदन हो, वा देशद्रोही के अपराध की वह क्षमा याचना हो अथवा जन्मभूमि से असिचालक के लिए वह अभिशाप ही रहा हो।

प्रातः की झिलमिली वेला में उसकी दृष्टि उर्ध्व से अधो-गामी हुई, फिर मृत व्यक्ति के मुख पर आवद्ध हो रही। आँसू की दो बूँद ढल पड़ीं।

तो उस समय वह कर्त्तव्य परायण निष्ठावान चन्दनराव भी था वहाँ—वहाँ पर !

उस समय ! था तो वही पुत्रघाती स्नेह विह्वल पिता ही ! उस वक्त संसार का वह चन्दन राव नहीं, किन्तु व्यक्तिगत एक अपना चन्दनराव-विनिद्ररजनी विताता—पुत्र के सिरहाने बैठा हुआ था। शायद अनुतप्त पिता ही।

और तब वैसे समय वैसी भोर की मुसकाती, पुलकित बेला राज अन्तःपुर में बन रही थी वज्रदग्ध वट वृक्ष की सी ही।

रूप सी—किन्नरीसम अपरूप लावण्यमयी राजकन्या कृष्णा विष-पात्र के प्रति स्थिर दृष्टि निबद्ध किये बैठी थी—हाँ, वह पान करेगी—इस कालकूट को पान करेगी। जन्मभूमि-रक्षा के लिए वह इसे पान करेगी ही। यदि वही न रहेगी तो यह ईर्षाग्नि धँधकेगी ही क्यों, युद्ध होगा ही किस लिए ?

दुष्टग्रह की भांति आई वह इस संतान-हीन राजप्रासाद में।

उस दिन !—हाँ, उसके भूमिष्ठ होने के उस दिन इस परिवार में

खुशी की बाट आ गई होगी। राजरानी माँ ने उसे हृदय से लगाकर चुम्बनों से उस पुष्प कोमल मुख को अबीर रञ्जित कर दिया होगा।

पिता-वह स्नेहमय पिता, उसे हृदय से लगाकर सन्तान प्रति का प्रथम सुख सन्तोष का अनुभव कर विभोर हो गये होंगे। और माता—जो कि गत रात्रि में भी नित की भांति उसके मुख में चुम्बन आँककर सोने के लिये चली गई थीं? वही राजरानी माँ जो कि पलभर उसे न देख कर संसार ही को सूना देखती है, सो वही माता उसे प्यार-दुलार करके भी अतृप्त रह जाया करती होंगी।

और वह खेल का साथी अजित? वही अजित, जो कि उसके रूठने पर उदास हो जाया करता, हसने पर हंस देता, रोने पर आंसू बहाता, अजित, वही अजित, जिसे कि उस दिन उसने प्रत्याख्यान किया था, साफ कह दिया था, कहना पड़ा था—देशद्रोही वह नहीं बन सकती है। वह जन्मभूमि के लिये है, नहीं कि जन्मभूमि उसके लिये। राजपूतानी राजपूतानी होकर ही विश्व में जीवित रह सकती है। बस। सो वह अजित। अजित? किन्तु कहां है वह खेल का साथी? देश-द्रोही कहां है वह अजित? पिता के क्षुभित तलवार ने उस सुकुमार पुत्र हृदय का रक्त चूस लिया है।

अजित, कहां है वह श्रीमान् अजित? उस युद्ध के प्राङ्गण में लुञ्जपुञ्ज ढला होगा उसका शव, शृंगाल, पेचक उसकी वह स्वप्निल आंतों को नोच रहे होंगे, राचिनी उसके केसर सुगन्धित मुख पर···।

कृष्णा सिहर उठी, और फिर पल पल में विचार चली दुष्टग्रह नहीं तो क्या? उसी के लिये न यह चहुँ ओर समराग्नि प्रज्वलित हुई है? जयसिंह, वह वीरश्रेष्ठ जयसिंह। एक ओर उसके शनी प्रार्थी हैं दूसरी ओर मारवाड़ाधिपति। और बीच में दोलायमान है वह दुष्टग्रह स्वयं वहीं।—हां-वह जावेगी, जैसे वह जमीन पर आई थी। निःशब्द गति से वैसे ही वह धरती से विदा भी लेगी—शब्दहीन गति से। जाना तो उसे पड़ेगा ही। पिता, माता की रक्षा के लिये नहीं, जाना उसे पड़ेगा जन्मभूमि की रक्षा के लिए, जन्मभूमि के कल्याण के लिये, चल तो

उसे देना पड़ेगा ही।

विष पात्र कृष्णा ने—राजकुमारी कृष्णा ने मुख में लगाया, फिर अविकृत मुख से उसे एक ही श्वास में पान भी कर गई।

और तब वक्षाभ्यन्तर से एक चित्र उसने निकाला। उस चित्र को देखा और देखती ही रही।

विमल हास्य से वह सुन्दर मुख सुन्दरतर हो उठा। नींद से जैसी उसके नेत्र झुक से पड़े। और भोर की बेला में राजकुमारी कृष्णा जन्मभूमि की गोद में सो रही। उसी के लिये।

और तब ? वार्ता शायद भोर बेला ही ने अपने तनु में भर लिया हो। प्रासाद हाहाकार से भर उठा। सखी-सहचरी-उस मृत शरीर को घेर कर रोने लगीं। राजरानी·उन्मादिनी-श्री कृष्णा पर पछाड़े खाने लगीं।

और तब-कृष्णा के शिथिल कर बन्धनी से चित्र धरती पर कब गिर पड़ा सो कौन जाने। चहुँ ओर के उस हाहाकार के भीतर केवल गोदावरी के नेत्र थे जल शून्य विस्मय आकुल। चित्र में उसके विस्मय-विस्फारित नेत्र आबद्ध हो रहे थे।

'सहमी-धीरे-सहमी गोदावरी, सब के अनजाने में चित्र उसने उठा लिया और वैसे ही लोक नेत्र के बाहर चिता में कुमारी के शव के साथ उस चित्र की भी दाह क्रिया गोदावरी ने कर दी। साक्षी रही-मात्र वह और प्रज्वलित अग्नि ही।

आह !

प्रोफेसर मदन मोहन एम० ए०, नित्य की भाँति लेक्चर तैयार कर रात को बारह बजे कमरे से बाहर निकले। ठण्डे पानी से सिर धोकर छोटी सी फुलवारी में टहलने लगे। नये स्थान में उन्हें कुछ असुविधा अवश्य हो रही थी। इस शहर में आए कुल तीन ही दिन हुए थे।

मदन मोहन ने सिगरेट सुलगाई और घूमने लगे फुलवारी में। निकट ही जूही के वृक्ष के नीचे चौकोर चट्टान पर कुण्डलाकार साँप बैठा था। मदन-मोहन को उसका कुछ भी भान न था। वह कब तक रहा सो वह कुछ नहीं जानता। जब सर्दी से उसके हाथ पैर बरफ से जमने लगे तब उसने देखा कि वहाँ एक साँप बैठा है जो बैठा बैठा उसे घूर रहा है। साँप ? नहीं, यह तो नागिन है। एक समय उसे अनुभव हुआ मानो नागिन के नेत्रों में मोती झलक रहे हैं। अदम्य विस्मय से उसने नागिन को देखा, फिर निःशब्द तीव्र गति से एक माधवी लता की ओट में हो गया। और जब बंगले की ओर मुड़ने लगा तो देखा हाथ में कटोरा लिए अर्द्धरात्रि में उसी ओर चली आ रही है—एक नारी ! किन्तु विचारने का समय भी न था। परिस्फुटित ज्योत्स्ना में नारी मूर्ति को उसने पहचान लिया। हां उसी की दासी सुन्दरी तो

है न यह ।

पाया था भी मदन ने सुन्दरी को इसी बंगले में जब कि अकेला वह सामान उतारने में हैरान हो रहा था, तब सहसा यह हृष्ट-पुष्ट, श्यामाङ्गी तरुणी पहुँच गई थी, एवं चिरपरिचिता की भांति बोली थी—"हटिए बाबू, मैं सब उठा लूंगी।"

और इसके बाद मशीन की भाँति कुछ ही घण्टों में घर-द्वार साफ कर सुरुचि के साथ सामान रख कर भोजन बना दिया था। मदन को अनुभव ही न हो पाया था कि वह नये स्थान में और अपने घर के बाहर आया है। उसके कुछ कहने से पहले सुन्दरी ने कहा था—"मैं ही आज से आपका काम किया करूँगी।"

"तुम यहीं रहती हो ?"

"हाँ, बगीचे की एक कोठरी मकान मालिक ने दे रखी है।"—इसके बाद वह काम में जुट गयी।

मदन ने सिहर कर देखा—सुन्दरी उसी नागिन की ओर बढ़ी चली जा रही है। अनजान लड़की ! अभी अभी नागिन डंस लेगी। चित्कार कर मदन उसे सावधान करने जा रहा था, किन्तु उस अद्भुत दृश्य के सामने उसकी चित्कार मुँह में ही रही। सुन्दरी ने तब तक दूध की कटोरी नागिन के सामने रख दी थी और खुद निकट खड़ी हो गई थी। नागिन चुपचाप दूध को पी रही थी।

मदन को ऐसा लगा जैसे माता अपने बच्चे को एकान्त में दूध पिला रही हो और बच्चा निर्भय दुग्ध पान कर रहा हो। उसके लिए यह दुनिया का अष्टम आश्चर्य था।

(२)

मध्यान्ह का समय था। मदन मोहन अब तक अलसाया अपनी चारपाई पर पड़ा हुआ था। उसके बन्द नेत्रों में कदाचित अतीत का कोई ग्राम्य चित्र व्याप्त था। करवटें बदल कर उसने श्वास खोली तो उसकी दृष्टि सीधी खुली खिड़की पर। वह उठा और खिड़की से झाँक कर देखा तो क्या देखता है—वही उसकी सुन्दरी बाहर खड़ी है। जल

पान का सामान लेकर वह बोली—"कब से मैं चाय लिए खड़ी थी—आप सोये तो सोते ही रहे। तबियत तो खराब नहीं है?"

मदन का जी कृतज्ञता से भर उठा—इस विदेशिनी, अनात्मीया तरुणी के मन में उसके सुख, सुविधा के लिए कैसी भावनाएँ भरी हुई हैं। फिर परदेश में इतना भी क्या कम लाभ है?

मदन ने कहा—"अच्छा तो हूँ। आज कालेज में मेरा दूसरा घण्टा खाली था ना, सो नहीं रहा। पुकारा क्यों नहीं?"

"तो क्या आपको पूरे दिन पढ़ाना नहीं पड़ता है।"

"यह स्कूल नहीं कालेज है।"

"आप मास्टर नहीं हैं!"

"प्रोफेसर हूँ।"

"वह किसे कहते हैं?"

मदन हँस पड़ा, "क्या लिखना-पढ़ना बिल्कुल ही नहीं जानती?"

"थोड़ा। वह मुझे पढ़ाया करती थीं।"

"कौन?"—प्रश्न कर मदन बड़ी विपत्ति में पड़ गया। कौन जानता था कि एक साधारण प्रश्न से तरुणी के नेत्रों में सावन की झड़ी लग जायगी।

किंकर्तव्य-विमूढ़ मदन बोला—"तुम रोती क्यों हो?"

सुन्दरी बिजली की भाँति अन्तर्ध्यान हो गई।

❀ ❀ ❀

पहली तारीख को नोटों का बण्डल लिये प्रफुल्ल मुख से घर पहुँचा मदन। सर्वप्रथम उसने सुन्दरी को बुलाकर उसका माहवारी वेतन उसके हाथ पर रख दिया।

"क्या लाना है?"

"यह तुम्हारा वेतन है।"

और यह देख कर मदन के विस्मय का अन्त नहीं रहा कि वेतन के नाम पर सुन्दरी का मुख सहसा ही वर्णहीन हो गया। कम्पित हाथों से उसने रुपये वहीं पर फेंक दिया और चल दी। लज्जित-सा पुकार

उठा मदन—"सुनो—सुनो।"

"कहिये।"

"थोड़े हैं क्या ? फिर साफ क्यों नहीं कहती ? लो, और लो।"

दो रुपये उसकी ओर और बढ़ा दिये। मदन निर्वाक रह गया।

भूल की मदन ने, नहीं, दासी, सेविका सुन्दरी के नेत्रों में उसके प्रति साकार भर्त्सना विद्यमान थी।

"आखिर बात क्या है ?"

"आप मुझे रुपये दे सकते हैं। परन्तु वे ऐसा कभी नहीं करती थीं।"

"वे कौन ?" भागो मत, आज तुम्हें कहना ही पड़ेगा कि वे कौन थीं ? प्रतिदिन रात को बारह बजे एक साँप को तुम दूध क्यों पिलाया करती हो ? डरती नहीं हो ? विषधर से मानव की मित्रता कैसे हो सकी, आज मैं यह जानना चाहता हूँ।"

इस बार सुन्दरी ने भागने की चेष्टा न की। वरन वहीं जमीन पर बैठ गई, बोली—"वह ? हाँ—मोहिनी थी—एक देव कन्या थी। गये साल ठीक इसी समय मृत्यु हुई उसकी।"

"कौन थीं वह"

"थीं एक बर्मी युवती, प्रेममयी नारी—हाँ देवी ही, बस इससे ज्यादा उसका परिचय नहीं जानती।"

"नहीं जानती ? फिर उससे परिचय कैसे हुआ ?"

"रास्ते में सहसा ही उनसे मेरी भेंट। उनका प्रथम प्रश्न था; लँगूर जी को जानती हो तुम बहन।"

"क्यों नहीं, जंगल में और पेड़ों पर हजारों लँगूर रहा करते हैं।"

"पेड़ ! मजाक मत करो बहन। उनने इसी शहर का नाम लिया था। लँगूर जी ने छः माह में लौटने को कहा था। जब दो वर्ष बीत गये, नहीं आये, तभी तो उतनी दूर से अकेली मुझे यहाँ आना पड़ा। कहो बहन, उनका घर कौन है ?" तब मैं कुछ समझी, बेचारी भोली नारी ! पूछा—"उनने अपना नाम और देश यही बतलाया था ?"

"हाँ।"

"तुम कहाँ से आई हो?"

"बर्मा से।"

मैंने कहा—"चाहे वे कोई भी हों उन्होंने तुम्हें धोखा दिया है। मैं एक अपढ़ स्त्री होकर भी समझ सकती हूँ कि लँगूर किसी का नाम नहीं होता। लँगूर तो बन्दर को कहते हैं। उनने तुमसे नाम तक छिपाया है।" "परन्तु वे मुझे धोखा नहीं दे सकते। नाम उनका यही था।" उस अन्धविश्वास, सीमा हीन दृढ़ता ने मेरी आँखों में आँसू भर दिये। मोहिनी धनवान थीं। तलाश कर इसी मकान को हमने भाड़े से ले लिया और कई वर्ष हम दोनों इसी में रहीं, वे चली गईं। किन्तु मैं उनकी याद में इस जगह को न छोड़ सकी।"

सुन्दरी सिसक कर रोने लगी और मदन उसके शान्त होने की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठा रहा।

"इसी घर में थीं?"—पूछा मदन ने। सुन्दरी के आँसू तब तक रुक चुके थे, उसने फिर पूछा—"लँगूर जी का पता लगा था?" "लगता भी कैसे झूठा वह। बर्मा में मोहिनी के घर अतिथि रहा। उसके पैसों से मौज करता रहा, केवल यही नहीं, दस हजार रुपये ले आया और जब भोली मोहिनी उसके प्रेम में मतवाली हो उठी, तब ६ माह में लौटकर शादी करने का वायदा कर चलता बना। निर्मोही! पाषाण! छिः छिः! वह बेचारी तो उसकी याद में मिट्टी में मिलने लगी। ऐसा शहर शायद ही कोई बाकी बचा हो, जहाँ हमने उसे नहीं ढूँढ़ा! पता तक नहीं दिया था, उससे फिर मिलता कैसे? मोहिनी मानवी नहीं, देवी थी, वह चली गई। मुझे छोड़ गई।"

पुनः क्रन्दन का अवसर देखकर मदन ने जल्दी से कहा—"बेचारी मोहिनी, मैं उस समय न हुआ वरना उसके लँगूर को ढूँढ़ कर ही रहता।"

"परन्तु हम दोनों की तरह ढूँढ़ना शायद ही आपसे हो सकता।"

"आख़ीर उन्हें बीमारी क्या हुई?"

"कहाँ की बीमारी । बस एक रात सोईं और सोते ही रह गईं ।"

"सबेरे तुमने उनके मृत शरीर को पाया होगा ।"

"मृत, मौत ! कैसी मौत ? वह मरी कहाँ ! वह प्रेम-मूर्ति थी ! वह तो अमर है ।"

"अभी तुम कह रही थीं न कि वह मर गईं ?"

"मरना नहीं कहा, सो रही । चली गईं ।"

"तुम्हारी ये गोल-गोल बातें नहीं समझ पाता, ठीक ठीक कहो न, वह कहाँ चली गईं ?"

"गईं नहीं, हैं वह इसी मकान में परन्तु—"

"फिर भी वही, भाई साफ कहो न ।" मदन बहुत ही आतुर हो रहा था ।

"आपने भी तो उन्हें देखा है ।"

"मैंने ! अच्छी पहेली बुझा रही हो ।"

"नहीं जी । उस नागिन को तो आपने देख ही लिया है । वही तो है मोहिनी ।"

"पागल हो गयी हो ?"

"बस सो रहने के बाद ही से वे नागिन के रूप में मेरे दरवाजे पर आ गईं । तभी से मैं उसे रोज दूध पिलाया करती हूँ । दूसरे दिन जब वह नहीं दिखी, तब मैंने पूरे मकान में खोजा । फिर बगीचे में मिली वह । बस रोज रात को उसके दर्शन किया करती हूँ ।"

"याने एक दिन अपनी मोहिनी की तरह तुम्हें भी नागिन के विष से मरना है ।"

सुन्दरी ने विश्वासपूर्ण-उज्वल नेत्र उठाये—"यदि वह वास्तव में साँप होती तो अब तक क्या मुझे जीता छोड़ती ? आपने भी तो देख ही लिया है कि कितने पास पहुँच जाती हूँ । यदि वह नागिन होती तो क्या नित्य दूध पीने के लिये एक निर्दिष्ट समय पर प्रति दिन आती ?"

"ज़रूर ही । अभ्यास—सुन्दरी, अभ्यास । अभ्यास विश्व में सर्व प्रधान है । जीव मात्र अभ्यास का दास है ।"

"यदि मान भी लें इस बात को तो भी दूसरा प्रश्न उठता है कि वह मुझे कहती क्यों नहीं ?"

"यह तो एक बात है।" गुनगुनाकर कहने लगा मदन—'जो अब तक मेरी समझ से बाहर है।"

उस दिन कई बार आकर द्वार हीपर से सुन्दरी लौट गई। मदन को उसी एकाग्रता से कुछ लिखलेना था। परन्तु जब कई घन्टे व्यतीत हो गये तब उसने प्रवेश कर कहा—"कलतक आपको ज्वर था। कई घण्टे हो गये आप को बैठे। अब लेट जाइये, कालेज का काम कल कर लेना।"

"कालेज का काम नहीं है सुन्दरी।"

"तो फिर क्यों इतनी मेहनत कर रहे हैं ?"

"कालेज से भी कहीं ज्यादा ज़रूरी है। अपनी पत्नी को लिख रहा हूँ। २४ दिनों तक उन्हें कुछ नहीं लिख सका था इसलिए वह मुझ पर नाराज हैं। मुझ पर सन्देह करने लगी हैं।"

परन्तु इतनी बातें सुनने, सोचने समझने की मन-स्थिति शायद ही सुन्दरी में तब रही हो। वह बार बार बेसमझ की भांति कहने लगी—"पत्नी-पत्नी आपकी पत्नी, आप उनके पति।"

अदम्य-विस्मय से मदन सुन्दरी को देखने लगा और उस मुख में उसने क्या पाया सो तो वही जाने, परन्तु वह धीरे से उठकर बाहर चल दिया। इतना तो निर्मल है।

चाय लेकर कमरे में प्रवेश कर सुन्दरी स्तब्ध रह गई। पूछा—"क्या आप कहीं जा रहे हैं ?"

सूटकेश में कपड़े भरते भरते उत्तर दिया मदन ने—"घर जा रहा हूँ।"

"घर ! आप ?"

जरा इतस्ततः कहा मदन ने—"यहाँ का काम छोड़कर घर जा रहा हूँ सुन्दरी।'

झनझनाहट के शब्द से चकित मदन ने मुँह उठाया—चाय का

प्याला जमीन पर गिर कर टूट चुका था, कमरे भर में चाय फैल गई थी। और सुन्दरी ? वह वहाँ पर थी नहीं। जाने क्यों मदन का मुख खेद से भर उठा। दूसरा दिन भी सामान पैक करने में व्यतीत हुआ। सुन्दरी एक बार भी मदन को नहीं दीख पड़ी। प्रयोजनीय वस्तु नियमित रूप से उसके सामने आने लगी। परन्तु सुन्दरी का कहीं पता न चला।

तीसरे दिन मदन ने उस गृह के कोने कोने तक को ढूँढ़ डाला; परन्तु सुन्दरी कहाँ ? ट्रेन का समय निकट था, मदन ने फिर एक बार उसका अनुसन्धान किया और तब उदास मुख ताँगे पर बैठ गया। ताजे फूल की सुगन्ध से उसने तांगे के अन्दर दृष्टि डाली और तब तांगे में रखे अपने हैट की ओर देखकर आहत वेदना से विकल हो उठा। ताजे बेला के फूलों का भारी गजरा हैट पर किसी ने रख दिया था। उसको देखते ही मदन क्षण भर के लिए मूर्तिवत् खड़ा रहा। सोचता रहा कि यह कार्य किसका हो सकता है। क्या सुन्दरी ने अपनी स्मृति-संरक्षणार्थ इसे प्रेमोपहार बनाकर स्थापित कर दिया है। यदि यह धारणा सत्य है तो उसके प्रेमोपहार का तिरस्कार उचित नहीं है। कितना अच्छा होता यदि वह इस समय मिल जाती ! सोचता सोचता मदन अचेत हो गया। जब उसमें चेतना का संचार हुआ तब उसके हृदय में एक आह ! को छोड़कर और कुछ भी शेष नहीं रह गया था।

भँवर

(१)

तो दुनियां के कुछ सत्य में वह भी एक सत्य रहा है। और उस सत्य-परिचय की अपरिचित बेला में हेमन्त रह गया पथ भ्रांत पथिक सा। अनेक छोटे छोटे तैल दीपों की ओर वह विमूढ़ विस्मय से निहारने लगा। लोहिताभ दीप-शिखाओं में मृत कीट-पतंगों के ढेर थे।

जो इस जीवन की ज्वाला में, जीवन की चिनगारी में और इस जीवन के स्फुलिंग में मृत्यु का सन्देश कैसा! खड़ा खड़ा हेमन्त उस गम्भीर रहस्य की यवनिका हटाने की चेष्टा करने लगा—एक ही साथ यह जीवित रहने की खुशी और मृत्यु का नशा कैसा! जिन दीपावली के दीप शिखा की हरियाली को आँखों में समाने के लिए अभी—अभी यह पतंग भिड़ कर खड़े हो गए होंगे, तो उसी पल में उसी शिखा में जल मरने की यह धुन कैसी! एक ही आधार में और एक ही साथ यह जीवन और मृत्यु का मेला कैसा!

श्वेत—चक— जैसी द्वितल अट्टालिका नक्षत्र शोभित आकाश जैसी प्रतीत हो रही थी—उन दीपक हारों में। और हेमन्त निविष्ट चित्त से दीपों को देखता फिर रहा था। सामने के वृहत् प्राङ्गण में नाट्याभिनय चल रहा था, काली प्रतिमा के सामने और चहुँ ओर थी दीपों की

शांत मुसकान। उस मुसकान में भटका-सा फिरने लग गया हेमन्त। जो उसका रहस्य के भीतर दबा, डूबने को हो गया। हां! वह उस रहस्य को जानेगा और फिर आनेगा?

नाट्याभिनय एक सा चल रहा था। अभाव था केवल घर के प्रभु का। चहुँ ओर हो रही थी हेमन्त की खोज। और तब वह ऐसा एक हेमन्त दीपों की भीड़ से बचता हुआ काली-मण्डप के पीछे पहुँच गया। उस एकान्त में जैसे उसका स्वांस कुछ हलका हुआ।

शिलाखण्ड पर बैठते ही सहसा वह चौंक पड़ा। पत्थर और ऐसा नरम! विस्मित—आतंक से हेमन्त उछल पड़ा।

अस्पष्ट आलोक में हेमन्त ने देखा कुछ हिल रहा है।

"कौन?" पूछा हेमन्त ने।

परन्तु रुद्ध रोदन की सिसकियों के सिवा उत्तर कुछ न सुन पड़ा।

"कौन?" निकट पहुँच कर पूछा फिर उसने।

"मैं हूँ मालती।"

"आप तो स्त्री हैं। यहाँ एकान्त में क्यों बैठी हैं?" कोई उत्तर न आया।

"आप सामने चली जाइये। नाटक हो रहा है। औरतों के लिये परदा भी है।"

वह रो पड़ी, फूल-फूलकर, सिसक सिसक कर। वह बहुत सा रोना रोई।

क्षुब्ध व्यथा से हेमन्त उससे लगकर खड़ा हो गया—

"क्या बात है बहन?"

इस कथन के बाद उसके आँसू फल्गु धारा से बह चले। निरुपाय हेमन्त उसके चुप रहने की प्रतीक्षा में बैठा रह गया।

"उस इन्द्रपुरी से मुझे बहिष्कृत कर दिया गया है।"

"इन्द्रपुरी! कहाँ है वह पुर? कैसा है वह पुर?"

रमणी ने नेत्र पोंछे, हाथ उठाकर दिखलाया—"वह जो है।"

"वह! वहाँ तो नाटक हो रहा है।"

"वही है स्वर्गपुर ! अभी कल तक मैं उसकी रानी थी !"

"तुम रानी थी ? फिर ?" हेमन्त जैसे निद्रा में आकुल हो रहा।

"मै ही थी रानी ! कम्पनी का मालिक तक मेरे सुख, सुविधा के लिए हाथ बाँधे खड़ा रहता। सुनहले जेवर, मोती का मुकुट और जरी का जम्पर, जूते, बनारसी साड़ी पहने मैं रानी के सिंहासन पर बैठती। मेरा राजा—वह बड़ी बड़ी आँख वाला राजा मेरी जरा सी हँसी पर फूला न समाता। और आज मेरा वही इन्द्रपुर आँखों के सामने छिन गया। आज वह सब मुझे पहचान भी न सके।"

"छिन गया ? किसने छीन लिया ?"

"उसी पुरानी रानी ने।"

"पुरानी रानी ?"

"वह बीमार थी और शायद मर भी गई।"

"तब फिर ?"

"क्या जानू मैं। नदी में स्नान को उतरी थी न-मैं उस दिन, और गुनगुना रही थी एक कजली। पहुँच गया वह हँसमुख, सुन्दर राजा।"

"तब ?"

कहने लगा—"तुम मेरी रानी बनोगी ?" रानी ? मैं तो विश्वास भी न कर सकी। पूछा मैंने, "रानी ?"

बोले वह—"हाँ ! हाँ ! रानी ! मेरी रानी !" फिर पूछ उठी। "वही रानी ! जिसकी कहानी दादी रात में कहा करती हैं ?" उसने कहा—हँस हँस कर बोले वह—"हां, वही रानी।" और तब चल पड़ी मैं उनके पीछे ! झोपड़ी में दादी चरखा कातती हुई पुकार उठीं —'कहाँ चली सुरभी ?' किन्तु तब तक एक रानी—मैं उस चीथड़े पहने हुई बूढ़ी को उत्तर देती भी कैसे ?" नारी चुप हो ली, जैसे गत का ऐश्वर्य उसके सामने हो। और उसी में वह डूब रही हो।

"तब ?" स्वप्नातुर स्वर से हेमन्त ने पूछा।

चकित स्त्री वह कह उठी—"वह इन्द्रपुर का साम्राज्य मेरी आँखों के सामने खुल पड़ा। एक रानी की—तरह स्वागत पाकर मैं भीतर

पहुँची। और देखते देखते रंग, रस, गन्ध से भर उठी। प्रातः से सन्ध्या तक रिहर्सल चलता और अच्छे से अच्छा भोजन। और उन सब के बीच रानी बनी मैं कभी कुछ कहती, कभी कुछ। कभी मीठे स्वर से गा देती। गान भी सीख लिया था। अभी कल की तो बात है। उस इन्द्रालय की रानी थी मैं। दादी को कल न्योता दे आई थी आज के लिए कि कहानी की रानी को कल अपनी आँखों देख लेना और अपनी ही दुलारी सुरभी को। पहले तो उन्हें विश्वास ही न आया परन्तु मेरे वस्त्रों अलंकारों को देख कर और उस मोटर को देख कर और उस मोटर को देख विश्वास आ गया। खुशी में समानी सी वह मुझ से लिपट गई थीं। रात भर मुझे छाती से चिपकाए पड़ी थी।"

"फिर वह इन्द्रपुर तुम्हारा किसने लूट लिया?"

"आज की लुटेरिन ने!"

"लुटेरिन ने?"

"हाँ! हाँ! आज की लुटेरिन ने।"

"फिर?"

"सवेरा कट गया--प्रतीक्षा में, कोई न आया मुझे लेने न राजा, न नौकर। तब सन्ध्या के पहले चली आई मैं यहाँ। यहाँ मेरे उसी इन्द्रालय में पहुँची। किसी ने मुझे न पहचाना। कल की रानी को आज किसी ने न पहचाना, भीतर मुझे घुसने भी तो नहीं दिया। झाँक कर देखा द्वार पर से—मेरा इन्द्रपुर लुटा हुआ था। न जाने कहाँ से एक रानी पहुँच गई थी। और राजा! मेरा राजा! वही राजा! हंस हंस कर बातें कर रहा था। उसके साथ। कल की रानी को आज किसी ने न पहचाना! न पहचाना!" वह रो पड़ी।

और तब हेमन्त समस्या पर समस्या, रहस्य पर रहस्य लिए बैठ रहा। चुपका—उनको सुलझाता हुआ।

(२)

हेमन्त की निद्रा जब खुली, तब दीपावली की दीप-शिखाओं पर

रात्रि जागरण की क्लांति छाई हुई थी, नींद से वह सब झुक रही थीं। प्रातः के धुंधले प्रकाश में वेदमंत्र बूँद बूँद कर चू रहा था धरती पर।

हेमन्त ने सहम कर चहुँ ओर देखा—कहीं उस सुरभी का कहीं पर भी पता नहीं था। न जाने क्यों उस अपरिचिता के लिये हेमन्त के मन में गहरा दीर्घ श्वास मँडराने लगा।

मण्डप में बिदा की सहनाई बज उठी। हेमन्त उठ कर खड़ा हो गया। प्रातः के शुभ्र प्रकाश में तब सुनहला रंग लग चुका था। दीप सब निर्वापित थे।

हेमन्त ने झटका दे दे कर हाथ पैर सीधे किये, फिर मण्डप की ओर चल पड़ा। कांसर घण्टा और शंख के मिलित रव में मानों होम कुण्ड की भव्य छाया समा सी रही थी, जन्म जन्म के यज्ञ मंत्र जैसे मूर्त थे। काली की बिदा बेला में जन समुद्र उमड़ पड़ा था।

उस जन समुद्र के पीछे खड़ा हेमन्त स्तब्ध-विस्मय से अचल हो रहा। अभी उस दिन जिस देवी के आगमन के लिए स्वागत का उल्लास लिए जनता की भीड़ थी फिर आज भी उसी देवी की विदा बेला में स्वागत की यह भीड़ कैसी? जिसको लाने में विपुल व्यस्तता थी उसे विसर्जन देने में भी विपुल व्यस्तता। यह कैसी पहेली है? विचारने लगा वह—हेमन्त—जिस प्रतिमा के अङ्गप्रत्यंग में तिल-तिल कर असीम सौंदर्य परिष्कृत किया गया, रूप-रस, भाव, भावना को बूँद बूँद कर भर दिया था जिन हाथों ने और जिसे घेर कर महोल्लास में मस्ताए थे जो हृदय, फिर वे ही हाथें, वही सब हृदय कैसे और किस तरह उसी प्रतिमा को किस वृत्ति के बल पर नदी के अतल में समाहित कर देवेंगे? कैसे उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग के गलित टुकड़ों को अपनी उन्हीं आँखों से देखेंगे, अपने उन्हीं हृदय से सहेंगे? और फिर इसके बाद सहेज कर अपने लिए रखेंगे भी क्या? यह कैसा बच्चों जैसा खेल है? अथवा परिहास है—अपने ही आपके साथ वह-उस प्रतिमा के साथ?

कब तक हेमन्त खड़ा रहा और कब तक वह खड़ा रहता, सो

हेमन्त स्वयं नहीं जानता। इस खड़े रहने को वह तब ही जान सका, जब कि कागों के झुण्ड में जूठे पत्तलों को लेकर कलह मच गया और चील की टोली सिर पर मड़राने लगी।

हेमन्त ने सिर उठाया। मण्डप जन शून्य था। दूर-बहुत दूर से घंटा ध्वनि व शंख निनाद श्रुत हो रहा था। जूठे पत्तलों को काग बिथरा रहे थे। चील झपटी हुई नीचे चली आ रही थी। कुत्ते पत्तलों को घसीटे लिए जा रहे थे और घर की गाय भी खूंटे से बंधी उस ओर लोलुप दृष्टि से निहार रही थी। शत-शत निर्वापित दीप पर मृत पतंग पड़े हुए थे।

और मण्डप के मध्य में? हेमन्त सिहर उठा—क्या देवी दुनियाँ के खेल को वास्तव करने के लिए कायायुक्त होकर स्वयं ही लौट आई?

रोमाञ्चित, स्वेदयुक्त हेमन्त पहुँच गया वहाँ तक। मलिन, छिन्न वसन परिहिता एक उज्ज्वल वर्णा नारी ने भाव शून्य नेत्र उठाकर उसे देखा, और फिर अवहेलना से मुँह फेर लिया।

गत रात्रि के धूमिल प्रकाश में हेमन्त ने उस सुरभी का मुख भली भांति देख न पाया था। क्या यही गत रात्रि की रानी सुरभी है—यही? यही? हेमन्त ने व्यग्र नेत्र से उसे देखा और फिर देखा। उसे लगा एक गहरी वियोग व्यथा जैसे रूप परिग्रह कर उस नारी के मुख में विराज गई है। तो नहीं मिला इस सुरभी का सौरभ युक्त राजा इसे? हेमन्त का जी जाने कैसा कर उठा।

नारी जरा हिलकर बैठी। हेमन्त उसके निकट जाकर खड़ा हो गया—बिलकुल पास।

नारी ने फिर देखा। हेमन्त सिहर उठा—किस विराट व्यथा से मनुष्य के नेत्र में ऐसी रिक्त, सर्व शान्त दृष्टि भर उठ सकती है इस बात को विचारने जाकर वह भीत उत्कण्ठा से बार बार सिहरने लगा।

"सुरभी।"

उसने भावशून्य नेत्र उठाए।

"अपनी व्यथा क्या तुम मुझमें बाँट नहीं सकती हो ?"

"मेरी व्यथा !"

"हाँ हाँ, तुम्हारी ही व्यथा का भाग लेने को जो खड़ा हूँ मैं।"

"किन्तु, इस व्यथा को सह भी सकते हो तुम ?"

"शायद सह लूँ।"

"और इस विराट व्यथा के नीचे तुम्हारा तप्त श्वास हिम-शीतल न हो जायगा ?"

"नहीं, मैं कहता हूँ नहीं।"

वह हँसी—एक भयंकर हँसी—"किन्तु यह बंट भी तो नहीं सकती न।"

"क्या तुम कल की वही सुरभी हो ?"

"नहीं कल की रानी कहो।"

"हाँ हाँ कल की रानी हो तुम ?"

"हाँ। और आपकी भिखारिन। मेरा राज्य लुट गया, लुट गया मेरा राज्य।"

"सुरभी। चलो, उठो। मैं तुम्हें साम्राज्य दूँगा। तुमको वहाँ की एकछत्र रानी बना दूँगा। चलो, उठो।"

"तुम—तुम दोगे ?" वह संदिग्ध नेत्रों से हेमन्त को निहारने लगी। फिर सिर हिला कर कहने लगी—"झूठ ! झूठ !!"

"दूँगा सुरभी।"

"झूठ—झूठ मेरा राज्य लुट गया।"

"विश्वास करो सुरभी।"

"और तुम ?"

"मैं चला जाऊँगा दूर बहुत दूर।"

"सच कहते हो।"

"सच सुरभी।"

"शायद दे सको। चलो !" वह चलने को हुई, फिर शायद रुकी ! अन्तर्भेदी दृष्टि से उसे देखने लगी। देखते देखते पूछा—"और मेरे

राजा को ?"

"राजा ? नहीं-नहीं वहाँ कोई राजा न रहेगा, रानी होगी तुम, साम्राज्य रहेगा तुम्हारा !"

"वैसा राज्य मुझे नहीं चाहिए। नहीं चाहिए! नहीं चाहिए!" कहती हुई वह उठकर भागी। और हेमन्त गत रात्रि के दीपावली की मृत खुशी की भीड़ के भीतर जीवित वह बैठा रह गया। जीवित रहस्यों के पर्दा हटाने के लिए।

दीपावली की रक्तिम छटा में खुशी की मस्ती भरी हुई थी। मण्डप में काली मूर्ति को घेर कर सदा की भांति नाट्याभिनय चल रहा था। दीप की माला पहने वह नवीनतर रात्रि के पलकों में पुरातन की महिमा वैसी ही सँभरी हुई थी। युग युग की वह चिर नवीना, चिर यौवना रात्रि वर्ष के बाद पहुँच गई थी हेमन्त के द्वार पर।

हेमन्त सबके रंग में रङ्ग मिलाकर बैठा हुआ था मण्डप के नीचे। वर्ष पहले की स्मृति वर्ष के उसी एक किसी के साथी और शायद धुँधली सी अस्पष्ट थी। या तो शायद मृत ही हो चुकी हो। कौन जाने।

सामने के स्टेज पर नाट्याभिनय चल रहा था। पर्दा उठता और मनोहर दृश्य के साथ समय पर गिर जाता।

उठा परदा। दृश्य था राजप्रासाद का। स्वयं राज महिषी का सज्जित कमरा। रूठी हुई रानी सिंहासन पर आसीन। सिरहाने खड़ा वह राजा—गानभंजन लीन, रानी के बालों में अंगुली चालना करता हुआ।

बस, देखा केवल इतना ही हेमन्त ने, एक स्मृत स्मृति की छाया उसके हृदय पर पड़ गई। उसका श्वास जैसे उस दृश्य के सामने रुकने को हो गया। वह उठा और वहाँ से भाग निकला।

उसकी गति रुद्ध हुई उसी मण्डप के पीछे।—हाँ। थी—शिला-खण्ड पर कोई श्वेत वस्तु थी, चुपचाप वह एक ओर बैठ रहा।

भोर की झिलमिली में उस सूनी नाट्यशाला में हेमन्त आकर खड़ा

हो गया । रात्रिजागरण से उसके नेत्र रक्ताभ हो रहे थे ।

एक नारी उस सूने स्टेज पर भ्रमर सी गुञ्जना करती टहल रही थी—"मेरा इन्द्रपुर लुट गया । मेरा राजा लुट गया । लुट गया मेरा सर्वस्व !"

सिहर कर हेमन्त पीछे हटा । नारी उन्मादिनी की भाँति स्टेज पर कुछ ढूँढती फिरने लगी और हेमन्त निर्वापित दीपों पर मृत-पतङ्ग के रहस्य के साथ इस जीवित रहस्य की यवनिका हटाने के व्यर्थ प्रयास में बैठा रह गया स्तब्ध सा, विमूढ़ सा !